रवीन्द्र-कविता-कानन

रवीन्द्र-कविता-कानन

[रवीन्द्र काव्य-दर्शन]

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

संस्करण : सं० २०३०

●

प्रकाशक :

प्रकाशन केन्द्र

न्यू बिल्डिंग्स, अमीनाबाद

लखनऊ

●

मुद्रक :

कैक्सटन प्रेस

बाई का बाग

इलाहाबाद

●

मूल्य : साढ़े सात रुपये

प्रकाशकीय

रवीन्द्र-कविता-कानन

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य की यह विस्तृत समीक्षा आज से लगभग अर्द्ध शताब्दी पूर्व हिन्दी के युग-प्रवर्तक कवि पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने की थी। तब ही इस कृति का अपूर्व स्वागत हुआ था लेकिन यह महान कृति बरसों से अप्रकाशित रही और पाठकों को इसके रसास्वादन से वंचित रहना पड़ा।

निराला जी के सुपुत्र पं० रामकृष्ण त्रिपाठी ने कृपापूर्वक इसके प्रकाशन की अनुमति प्रदान करके हमें इस कृति को प्रकाश में लाने का सौभाग्य दिया।

इस कृति को पढ़ कर पाठक देखेंगे कि निराला जी की आलोचक दृष्टि कितनी पैनी और निष्पक्ष थी। किसी मौलिक रचनाकार का आलोचक होना बहुत स्वाभाविक नहीं है। परन्तु निराला जी में आलोचक की भी विशेषताएँ थीं यह इस कृति से प्रत्यक्ष है।

इस रचना से निराला जी के सर्वथा एक भिन्न रूप से पाठकों का परिचय होगा।

पद्मधर मालवीय

रवीन्द्र-कविता-कानन

परिचय

रवीन्द्रनाथ के जीवन के साथ बंगभाषा का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है, दोनों के प्राण जैसे एक हों। रवीन्द्रनाथ सूर्य हैं और बंगभाषा का साहित्य सुन्दर पद्म। रवीन्द्रनाथ के उदय के पश्चात् ही बंग-साहित्य का परिपूर्ण विकास हुआ। रवीन्द्रनाथ के आने के पहले इसके सौन्दर्य की यह छटा न थी, न इसके सुगन्ध की इतनी तरंगें संसार में फैली थीं। पश्चिमी विद्वानों के हृदय में बङ्ग-भाषा के प्रति उस समय इस तरह का अनुराग न था। वे मधुलुब्ध भौंरे की तरह इसकी ओर उस समय इतना न खिचे थे।

वह बङ्गभाषा के जागरण की अवस्था थी। कुछ बङ्गाली जगे भी थे, परन्तु अधिकांश में लोग जग कर अंगड़ाइयाँ ही ले रहे थे। आँखों से सुषुप्तिका नशा न छूटा था। आलस्य और शिथिलता दूर न हुई थी। उस समय मधुर प्रभाती के स्वरों में उन्हें सचेत करने की आवश्यकता थी। उनकी प्रकृति को यह कमी खटक रही थी। जीवन की प्रगति, रूखी कर्त्तव्यनिष्ठा और कर्म-तत्परता को संगीत और कविता की सदा ही जरूरत रही है। बिना इसके जीवन और कर्म बोझ हो जाते हैं। चित्त-उच्चाट के साथ ही संसार भी उदास हो जाता है, जीवन निरर्थक, नीरस और प्राणहीन-सा हो जाता है।

प्रकृति की कमी भी प्रकृति के द्वारा ही पूर्ण होती है। जागरण के प्रथम प्रभात में आवेश भरी भैरवी बंगालियों ने सुनी,—वह संगीत, वह तान, वह स्वर, बस जैसा चाहिये। वैसा ही। जाति के जागरण को कर्म की सफलता

तक पहुँचाने के लिए, चल कर जगह-जगह पर थकी बैठी हुई जाति को कविता और संगीत के द्वारा आश्वासन और उत्साह देने के लिए उसका अमर कवि आया, प्रकृति ने प्रकृति का अभाव पूरा कर दिया। ये सौभाग्यमान पुरुष बङ्गाल के जातीय महाकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से ले कर बीसवीं शताब्दी के पूर्ण प्रथम चरण तक तथा अब तक रवीन्द्रनाथ कविता साहित्य में संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं। इनके छन्द अनगिनित आवर्तों और स्वर-हिलोरों की मधुर अगणित थपकियों में पूर्ण थे और पश्चिम की पथरीली चट्टानें ढह कर नष्ट हो गईं—विषमता की जगह समता की सृष्टि हुई। प्रतिभा के प्रासाद में संसार ने रवीन्द्रनाथ को सर्वोच्च स्थान दिया। देखा गया कि एक रवीन्द्रनाथ में बड़े-बड़े कितने ही महाकवियों के गुण मौजूद हैं। परन्तु इस बीसवीं सदी में जिसे प्राप्त कर संसार बसन्तोत्सव मना रहा है, वह कभी विकसित, पल्लवित, उच्छ्वसित, मुकुलित, कुसुमित, सुरभित और फलित होने से पहले अंकुरित दशा मे था।

अकुर को देख कर उसके भविष्य-विस्तार के सम्बन्ध में अनुमान लगाना निरर्थक होता है। क्योंकि प्राय: सब अंकुर एक ही तरह के होते हैं। उनमें होनहार कौन है और कौन नहीं, यह बतलाना जरा मुश्किल है। इसी तरह, वर्त्तमान के महाकवि को उनके बालपन की क्रीड़ाएँ देख कर पहचान लेना, उनके भविष्य के सम्बन्ध में सार्थक कल्पना करना, असम्भव है। क्योंकि उनके बालपन में कोई ऐसी विचित्रता नही मिलती, जिससे यौवन-काल की महत्ता सूचित हो। जो लोग वर्तमान के साथ अतीत की शृंखला जोड़ते हैं, वे वर्तमान को देख कर ही उसके अनुकूल अतीत की युक्तियाँ रखते हैं। रवीन्द्रनाथ के बाल्य की वह कृश नदी—उसका वह छोटा सा तट, सब नदियों की तरह पानी की क्षुद्र चचलता, आनन्द-आवर्त्त, गीत और नृत्य; यह सब देख कर उसके भविष्य-विस्तार की कल्पना कर लेना सरासर दुस्साहस है।

जिस समय रवीन्द्रनाथ अपने बालपन के क्रीड़ा-भवन में केलियों की कच्ची दीवारें उठाने और ढहाने में जीवन की सार्थकता पूरी कर रहे थे, अपना आवश्यक प्रथम अभिनय खेल रहे थे, वह बङ्ग-साहित्य का निरा बाल्यकाल ही न था, न वह किशोर और यौवन का चुम्बन-स्थल था, वह किशोरता की मध्यस्थ अवस्था थी। बाल्य डूब रहा था और सौंदर्य में एक खिचाव रह-रह कर आ

रहा था । बाल्य की स्मृति-विस्मृति एक दूर की स्मृति-विस्मृति हो रही थी । बङ्गभाषा उस समय नौ वर्ष की एक बालिका थी ।

उस समय राजा राममोहनराय के द्वारा बंगभाषा में गद्य का जन्म हो चुका था । उनकी प्रभावशालिनी लेखनी की बंगला साहित्य में मुहर लग चुकी थी । भाषा के शोधन और मार्जन में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हाथ लगा चुके थे । कविता की नयी ज्योति खुल चुकी थी—हेमचन्द्र मैदान में आ चुके थे । बंकिमचन्द्र उपन्यास और गद्य साहित्य में जीवन डाल चुके थे । नवीनचन्द्र की ओजस्विनी कविताएँ निकल रही थीं । मधुसूदनदत्त के द्वारा अमित्राक्षर छन्द की सृष्टि हो गई थी ।

इतना सब हो जाने पर भी वह बंगभाषा में यौवन का शुभ भाव न था । जो कुछ था, वह बाल्य और किशोरता का परिचय मात्र ही था । किशोरी बंगभाषा के साथ इस समय अपनी मातृ-भूमि की मृदुल गोद पर खेल रहे वे किशोर रवीन्द्रनाथ—बगभाषा के यौवन के नायक—उसकी लीला के मुख्य सहचर—उसके तीसरे युग के एकछत्र सम्राट ।

कलकत्ता के अपने जोड़ासाको भवन में १८६१ की ६ मई को रवीन्द्रनाथ पैदा हुए थे । इस वश की प्रतिष्ठा बंगाल में पहले दर्जे की समझी जाती है । अलावा इसके इस वंश को एक और सौभाग्य प्राप्त था जो श्रीमानों को अक्सर नहीं मिलता । इस वंश मे लक्ष्मी और सरस्वती की पहले ही से समान दृष्टि है । इसके लिये ठाकुर-वंश बंगाल मे विशेष प्रसिद्ध भी है । लक्ष्मी और सरस्वती के पारस्परिक विरोध की कितनी ही कहानियाँ हिन्दुस्तान में मशहूर हैं । बंगाल में इन दोनों की मित्रता के उदाहरण में सबसे पहले ठाकुर घराने का नाम लिया जाता है । रवीन्द्रनाथ के पिता स्वर्गीय महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर थे और पितामह स्वर्गीय द्वारकानाथ ठाकुर । शारदा देवी आप की माता थीं ।

ठाकुर-वंश पिराली ब्राह्मण समाज की ही एक शाखा है । इस वंश को 'ठाकुर' उपाधि अभी पाँच ही छः पुश्त से मिली है । इस वंश के साथ बगाल के दूसरे ब्राह्मणों के समाज का खान-पान बहुत पहले ही से नही है । इस वंश के इतिहास से मालूम हुआ कि पहले इस वंश की मर्यादा इतनी बढ़ी-चढ़ी न थी । वह बहुत साधारण भी न थी । समाज में इसके पतित समझे जाने के कारण इसमें क्रान्ति करने वाली शक्तियों का अभ्युत्थान होना भी स्वाभाविक ही था । ईश्वर इच्छा, क्रान्ति के भावों के फैलाने के लिये इस वंश की शक्ति

को साधन भी यथेष्ट मिले और समाज से दब कर मुरझाने के बदले देश और संसार में उसने एक नयी स्फूर्ति फैलायी। धर्म, दर्शन, विचार-स्वातन्त्र्य, साहित्य, संगीत, कला और प्रायः सभी विषयों में ठाकुर घराने की इस समय एक खास सम्मति रहती है। संसार में उसकी सम्मति आदर-योग्य समझी जाती है। सामाजिक बाधाओं के कारण विलायत-यात्रा, धर्म-संस्कार, साहित्य-संशोधन और सभ्यता के हर एक अंग पर अपनी कृतियों के चिन्ह छोड़ने का इस वंश को एक शुभ अवसर मिला।

श्राद्ध के समय इस घराने में दस पुरुषों तक के जो नाम आते थे वे ये हैं :—

"ओं पुरुषोत्तमाद बलरामो बलरामाद्धरिहरो हरिहराद्रामानन्दो रामानन्दान्महेशो पचाननः पंचाननाज्जये रामो जय रामान्नीलमणि नीलमणे रामलोचनों रामलोचनाद्द्वारकानाथो नमः पितृपुरुपेभ्यो नमः पितृ पुरुषेभ्य।"

"पुरुषोत्तम—बलराम—हरिहर—रामानन्द—महेश—पंचानन—जयराम—नीलमणि—रामलोचन—द्वारकानाथ—देवेन्द्रनाथ—रवीन्द्रनाथ—रथीन्द्रनाथ।

ठाकुर-वश भट्टनारायण का वंश है। भट्टनारायण उन पाँच कान्यकुब्जों मे हैं जिन्हें आदि शूर ने कन्नौज से अपने यहाँ रहने के लिए बुलाया था और बंगाल में खासी सम्पत्ति देकर उन्हें प्रतिष्ठित किया था। सस्कृत के वेणी-संहार नाटक के रचयिता भट्टनारायण यही थे। जिनका नाम पितृ पुरुषों की वश-सूची में पहले आया है, वे पुरुषोत्तम यशोहर जिले के दक्षिण डिहो के रहने वाले पिराली वंश के एक ब्राह्मण की कन्या से विवाह करके पिराली हो गये थे। ये यशोहर में रहने भी लगे थे।

इसी वश के पंचानन यशोहर से गोविन्दपुर चले आये। यह मौजा हुगली नदी के तट पर बसा है। यहाँ नीच जातियाँ ज्यादा रहती थीं। ये उन्हें 'ठाकुर' कह कर पुकारती थी। बगाल में ब्राह्मणो के लिये यह सम्बोधन आमफहम है। इस तरह, पंचानन के बाद से इस वश की यही 'ठाकुर' उपाधि चली आ रही है।

गोविन्दपुर में जब पंचानन पहले पहल गये और बसे, उस समय भारत में अंग्रेज पैर जमा ही रहे थे। वहाँ के अग्रजों से पंचानन की जान पहचान हो गई। अंग्रेजों ने उनके लड़के को जिनका नाम जयराम था, २४ परगने का जमींदार मुकर्रर कर दिया। जयराम ने कलकत्ते के पथरिया हट्टे में एक मकान

बनवाया और कुछ जमीन भी खरीदी। १७५२ ई० में उनका देहान्त हो गया। उनके चार पुत्र थे। उनमें उनके दो लड़कों ने, नीलमणि और दर्पनारायण ने कलकत्ते के पथरिया हट्टा और जोड़ासाकू में दो मकान बनवाये। इस वंश की सम्पत्ति का अधिक भाग रवीन्द्रनाथ के पितामह द्वारकानाथ ने स्वयं उपार्जित किया था और उनके ऋण के कारण उसका अधिकांश चला भी गया।

इस वंश का धर्म पहले शुद्ध सनातन धर्म ही था। उस समय ब्रह्म-समाज बीजरूप में भी न था। इसके प्रतिष्ठाता रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ थे। इस समाज की प्रतिष्ठा कई कारणों से की गयी थी। पहला कारण तो यही है कि ब्राह्मण-समाज में इस वंश की प्रतिष्ठा न थी। दूसरे इस वंश के लोगों में शिक्षा और संस्कृति बढ़ गयी थी। भावों में उदारता आ गयी थी। ये विलायत-यात्रा के पक्ष में थे। द्वारकानाथ विलायत हो भी आये थे। इन कारणो से समाज की दृष्टि में इस वंश की जो जगह रह गई थी, वह भी जाती रही। इस वंश को इसकी बिल्कुल चिन्ता नहीं हुई। ज्ञान-विस्तार के साथ ही इसकी सुरुचि भी परिष्कृत होती गई। तुच्छ अभिमान की जगह उन्नत आर्य-संस्कृति का अभिमान पैदा हुआ। जाति और देश के प्रति प्रेम और प्रतिभा ने इस वंश को गौरव के शिखर पर स्थापित किया। रवीन्द्रनाथ का रंग और रूप देख कर आर्यों के सच्चे रंग एवं रूप की याद आ जाती थी। समाज और देश के मुख्य मनुष्यों द्वारा बाधा प्राप्त होने के कारण इस वंश के लोगों को अपने विकास के पथ पर अग्रसर होने की आत्म-प्रेरणा हुई। ये बढ़े भी और बहुत बढ़े। इनकी प्रतिभा में नयी सृष्टि रचने की जो शक्ति थी उसने देश और साहित्य का बड़ा उपकार किया, दोनों में एक युगान्तर पैदा कर दिया। जिसमें सृष्टि के हजारों मनुष्यों को उस मार्ग पर चलने की शक्ति है, जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव पर टिका हुआ है, जिसकी बुद्धि अपने विचारों से अपने को धोखा नहीं देती, वह हजार उपेक्षाओं और असंख्य बन्धनों में रहने पर भी अपनी स्वाधीन गति के लिये रास्ता निकाल लेता है। इन लोगों ने भी ऐसा ही किया। अपने लिये आर्य संस्कृति के अनुसार धर्म और समाज की सुविधा भी कर ली। इनके यहाँ अभी उस दिन तक देवी-देवताओ की पूजा हुआ करती थी। इन लोगों ने ब्रह्म-समाज की स्थापना की और वेदान्त वेद्य ब्रह्म की उपासना करने लगे। रवीन्द्रनाथ के पिता, महर्षि देवेन्द्रनाथ तो पक्के ब्राह्म-समाजी थे, परन्तु इनकी माता के हृदय में हिन्दूपन की छाया, मूर्ति पूजन के संस्कार, मृत्यु के अन्तिम

समय तक मौजूद थे ।

देश की तात्कालिक परिस्थिति जैसी थी, ईसाई धर्म जिस वेग से बंगाल में धावा मार रहा था, सनातनधर्मियों की संकीर्णता जिस तरह क्षुद्र होती जा रही थी, यश प्राप्ति की प्यास जिस तरह बंगालियों को पश्चिम की ओर बढ़ा रही थी, उन कारणों से उस समय एक ऐसे धर्म का उद्भव होना आवश्यक था जो बाहरी देशों से लौटे हुए हिन्दुओं को भारतीयता के घेरे में रख कर उनमें पारस्परिक ऐक्य और सहानुभूति बनाये रह सके—जाति-भिन्नता में भी एकता के बन्धनों को दृढ़ कर सके। दूसरी दृष्टि से, जिस तरह पण्डितों की संकीर्णता सक्रिय थी, उसी तरह देश में उदारता की एक प्रतिक्रिया होना आवश्यक हो गया था, यह अवश्यम्भावी था और प्राकृतिक भी था ।

पहले पहल राजा राममोहनराय के मस्तिष्क में ब्राह्म-समाज की स्थापना के भाव पैदा हुए थे । परन्तु ब्राह्म-समाज को स्थायी रूप वे नहीं दे सके । इससे पहले ही उनकी मृत्यु हो गयी । इसे स्थाई रूप मिला, रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ के द्वारा । जिस समय देवेन्द्रनाथ के हृदय में अद्वैत ब्रह्म की उपासना की आशा दूसरों की दृष्टि से बच कर पुष्ट हो रही थी, उस समय उनके यहाँ शालिग्राम की पूजा बड़े धूमधाम से की जाती थी । परन्तु, जिस बीज का अंकुर उग चुका था, उसका फलीभूत होना स्वाभाविक था । अस्तु १८३८ ई० में महर्षि ने तत्वरंजनी नाम की एक सभा की प्रतिष्ठा की । इसकी स्थापना अपने घर पर ही की थी। इसके दूसरे अधिवेशन के समय विद्यावागीश रामचन्द्र को उन्होने बुलाया । विद्यावागीश महोदय ने इस सभा का नाम तत्व-रंजिनी से बदल कर तत्वबोधिनी रखा । ८४२ ई० में यह सभा निर्जीव ब्रह्म-समाज के साथ मिला दी गयी । इसी साल महर्षि देवेन्द्रनाथ भी ब्राह्म-समाजी हो गये । इसमें नया जीवन डालने और कुछ दूसरे कारण से देवेन्द्रनाथ महर्षि कहलाये । उनके सुपुत्रों ने इस कार्य में उनकी सहायता की । किसी समय रवीन्द्रनाथ ने बड़ी योग्यता और तत्परता के साथ पिता के इस कार्य का संचा-लन किया था ।

रवीन्द्रनाथ का बालपन सुख की कल्पनाओं और सरल केलियों के भीतर संसार का प्रथम परिचय प्राप्त कर मधुर और बड़ा ही सुहावना हो रहा था । रवीन्द्रनाथ उच्च वंश के लड़के थे । उन्हें कोई अभाव न था । परन्तु उन्हें बालपन में दीनता की गोद पर सहानुभूति की प्रार्थना करते हुए देख कर हृदय

को अपार सुख की प्राप्ति होती है। उन्हें ऐसा ही साधारण जीवन बिताना पड़ा था।

रवीन्द्रनाथ पढ़ने के लिये ओरियण्टल सेमीनरी में भर्ती किये गये। उस समय इनके स्कूल जाते हुए एक ऐसी ही घटना घटी। पहले इनके दो साथी उस स्कूल में भर्ती किये गये। वे इनसे उम्र में कुछ बड़े थे। उन्हें बग्घी पर चढ़ कर स्कूल जाते हुए और स्कूल से लौट कर बाहर के मनोरंजक दृश्यों का वर्णन करते हुए सुन कर रवीन्द्रनाथ की स्कूल जाने की बड़ी लालसा हुई। परन्तु इनकी उम्र उस समय बहुत थोड़ी थी। लोगों ने समझाया कि इस समय तो स्कूल जाने के लिये मचल रहे हो, परन्तु दो-चार दिन के बाद फिर जी चुराओगे। यह भय बालक रवीन्द्रनाथ को सत्याग्रह से विचलित न कर सका। आँसुओं के बल पर बालक की विजय हुई। दूसरे दिन रवीन्द्रनाथ ओरियण्टल सेमीनरी में बच्चों की कक्षा में भर्ती कर दिये गये। यहाँ बच्चों पर जैसा शासन था, इससे रवीन्द्रनाथ को बहुत शीघ्र यहाँ की पढ़ाई से जी छुड़ाना पड़ा।

ओरियण्टल सेमीनरी से बालक रवीन्द्रनाथ को नार्मल स्कूल में भर्ती कर दिया गया। उम्र इस समय भी इनकी बहुत थोड़ी ही थी। यहाँ दूसरी ही दिक्कत का सामना करना पड़ा। यहाँ बच्चों से अंग्रेजी में गाना गवाया जाता था। अंगरेजी थियोरियाँ और अंगरेजी गाने सिखलाये जाते थे। हिन्दुस्तानी बच्चों के गले में मज कर अंगरेजी गाने की ऐसी शकल बन गई थी कि उस पर इस समय के शब्द-तत्ववेत्ताओं को पाठोद्धार के लिये विचार करना चाहिये। रवीन्द्रनाथ को इस समय भी उस गाने की एक लाइन न भूली।

"कलोकी पुलोकी सिंगल
मेलालि मेलालि मेलालि।"

इसके उद्धार के लिये रवीन्द्रनाथ को बड़ी मिहनत उठानी पड़ी। फिर भी 'कलोकी' की सफल कल्पना नहीं कर सके। बाकी अंश का उन्होंने इस तरह उद्धार किया—'Full of glee, Singing merrily! Singing merrily!! Singing merrily!!!'

नार्मल स्कूल में विद्यार्थियों के सहवास को रवीन्द्र बाबू ने बहुत ही दूषित बतलाया है। जब लड़कों के जलपान की छुट्टी होती थी, उस समय नौकर के साथ बालक रवीन्द्रनाथ को एक कमरे में बन्द रहना पड़ता था। इस तरह

बालकों के उत्पात से वे आत्मरक्षा करते थे। एक दिन वहाँ किसी शिक्षक ने अपशब्द कह दिये। तब से उनके प्रति बालक रवीन्द्रनाथ की अश्रद्धा हो गयी। फिर बालक ने उस शिक्षक के किसी प्रश्न का कभी उत्तर नहीं दिया।

रवीन्द्रनाथ ने सात ही वर्ष की उम्र में एक कविता पमार छन्द में लिखी थी। इसे पढ़ कर इनके घर वालों को बड़ी प्रसन्नता हुई। यह कविता रवीन्द्रनाथ ने अपने भानजे ज्योति स्वरूप से उत्साह पा कर लिखी थी। उम्र में वे इनसे बड़े थे, अंग्रेजी स्कूल में पढ़ते थे। इनके बड़े भाई स्वर्गीय द्विजेन्द्रनाथ को यह कविता पढ़ कर बड़ा ही हर्ष हुआ। उन्होंने बहुतेरों को कविता दिखायी और एक दिन नेशनल पेपर के एडीटर नवगोपाल बाबू के आने पर उन्हें भी कविता सुनायी गयी। वर्तमान काल के समालोचकों की तरह अनुदार और जरा-सी सम्मति देने वालों की उस समय भी कमी न थी। नवगोपाल बाबू भी आखिर सम्पादक थे, गम्भीरतापूर्वक हँसे, दबे स्वरों में कहा—"हाँ, अच्छी तो है, जरा द्विरेफ खटकता है।" नवगोपाल बाबू कविता के मर्मज्ञ थे या नहीं, यह तो हम नहीं कह सकते, परन्तु इतना हमें मालूम है कि उनकी कविता-मर्मज्ञता के सम्बन्ध में उस समय के बालक रवीन्द्रनाथ के जो भाव थे वे अब तक भी नहीं बदल सके, न अब तक वह द्विरेफ शब्द रवीन्द्रनाथ को खटका।

बचपन में रवीन्द्रनाथ पर नौकरों का शासन रहता था। इन्हीं के बीच में वे पल रहे थे। रवीन्द्रनाथ के पिता उन दिनों पर्यटन कर रहे थे। अक्सर बाहर ही रहा करते थे। रवीन्द्रनाथ को माता की गोद पर पहली सीढ़ी के पार करने का सौभाग्य न मिला। माता उस समय रोग-ग्रस्त रहती थीं। रवीन्द्रनाथ की देख-रेख नौकरों द्वारा ही हुआ करती थी। बड़े घरों के लड़के बालपन में भोजन-वस्त्र का अभाव नहीं महसूस करते। यह बात रवीन्द्रनाथ के लिये न थी—भोजन और वस्त्र का सुख भोग उस समय इन्हें नहीं मिला। सुख उन्हें उनकी क्रीड़ाएँ देती थीं। उन्हीं की छाया में वे प्रसन्न होते थे। दस वर्ष तक रवीन्द्रनाथ को मोजा भी नहीं मिला। जाड़े के दिनों में दो सादे कुर्ते पहन कर जाड़ा काटना पड़ता था। रवीन्द्रनाथ ने अपने बालपन को जिन शब्दों में याद किया है, उनमे वे हर एक पाठक की सहानुभूति आकर्षित कर लेते हैं। एक जगह उन्होंने लिखा है—"इस तरह के अभावों से मुझे कष्ट न था। परन्तु जब हमारे यहाँ का दर्जी इनायत खाँ कुर्त्ते में जेब लगाना भी अनावश्यक समझता था तब दुःख अवश्य होता था।" एक जोड़ा स्लीपरों से बालक को जूते

का शौक पूरा कर लेना पड़ता था। इस तरह के स्लीपरों से रवीन्द्रनाथ की इतनी सहानुभूति थी कि जहाँ उनके पैर रहते वहाँ जूतों की पहुँच न होती थी।

नौकरों के प्रभाव का एक उदाहरण लीजिये। इनके यहाँ एक नौकर खुलना जिले का रहता था। नाम श्यामा था। था भी श्यामा ही। एक रोज बालक रवीन्द्रनाथ को कमरे में बैठा कर चारो ओर से उसने लकीर खीच दी और गम्भीर हो कर कहा, इसके बाहर पैर बढ़ाया नहीं कि आफत का पहाड़ टूटा। सीता की कथा रवीन्द्रनाथ पढ़ चुके थे। वे नौकर की बात पर अविश्वास न कर सके। वे चुपचाप वही बैठे रहे। इस तरह कई घण्टे उन्हें बैठे रहना पड़ा। झरोखे से अपने घर के पक्के घाट पर लोगों की भीड़, बगीचे में चिड़ियों की चहक, पूर्व ओर की चहारदीवारी के पास का चीनावट, पड़ोसियों का आना, नहाना, नहाने के प्रकार भेद, ये सब दृश्य बालक रवीन्द्रनाथ को उस कैद में भी धैर्य और आनन्द देने वाले उनके परम प्रिय सहचर थे। उनके बालपन का अधिकांश समय प्रकृति के दूसरे छोर की मोहिनी सृष्टि के साथ उन्हें मैत्री के बन्धन में बाँध कर न जाने किस अलक्षित प्रेरणा से उनके भावी जीवन के आवश्यक अंग का सुधार कर रहा था। घर की प्रकृति के साथ रवीन्द्रनाथ का एक बड़ा ही मधुर परिचय हो गया था। उनके किशोर समय के आते ही यह प्रकृति के सुकुमार कविता के रूप में प्रगट हुआ।

प्रकृति दर्शन की कितनी ही कथाएँ बालक रवीन्द्रनाथ की जीवनी में मिलती हैं। विस्तार भय से उनका उल्लेख हम न करेंगे। संक्षेप में इतना कह देना बहुत होगा कि जीवन की इस अवस्था को देख कर कवि के भावी जीवन का कुछ अनुमान हो जाता है।

नार्मल स्कूल के एक शिक्षक रवीन्द्रनाथ को घर पर भी पढ़ाते थे। ये नीलकमल घोषाल थे। स्कूल की अपेक्षा घर पर रवीन्द्रनाथ को अधिक पढ़ना पड़ता था। सुबह को लँगोट कस कर एक काने पहलवान से ये जोर करते थे। कुछ ठंडे हो कर, कुर्ता पहन, पदार्थ-विद्या, मेघनाद-वध काव्य, ज्यामिति, गणित, इतिहास, भूगोल आदि अनेक विषयों का अभ्यास करना पड़ता था। फिर स्कूल से लौट कर ड्राइंग और जिमनास्टिक सीखते थे। रविवार को गाना सिखलाया जाता था। सीतानाथ दत्त महाशय मन्त्रों के द्वारा कभी-कभी पदार्थ-विज्ञान की शिक्षा देते थे। कैम्बल मेडिकल स्कूल के एक विद्यार्थी से अस्थि-विद्या की

शिक्षा मिलती थी। एक तारों से जोड़ा हुआ नर कंकाल पाठागार में ला कर खड़ा कर दिया गया था। उधर हेरम्ब तत्वरत्न मुकुन्द सच्चिदानन्द से आरम्भ कर 'मग्धबोध' व्याकरण रटा रहे थे। बालक रवीन्द्रनाथ को अस्थि-विद्या के हाड़ों और वोददेव के सूत्रों में हाड़ ही अधिक सरस और मुलायम जान पड़ते थे। बङ्गभाषा की शिक्षा के परिपुष्ट हो जाने पर इन्हें अंगरेजी की शिक्षा दी जाने लगी।

पहले पहल इन्हें प्यारीलाल की लिखी पहली और दूसरी पुस्तक पढ़ायी गयी, फिर एक पुस्तक आक्सफोर्ड रीडिंग की। अंग्रेजी की शिक्षा में रवीन्द्रनाथ का जी न लगता था। पढ़ते-पढ़ते शाम हो जाती थी। मन अन्तःपुर की ओर भागा करता था। दिन भर की मिहनत के बाद थका हुआ मन क्रीड़ा की गोद छोड़ कर विदेशी भाषा के निर्दय बोझ के नीचे दबा रहना कैसे पसन्द करता? रवीन्द्रनाथ को इस समय की दयनीय दशा की स्मृति में लिखना पड़ा है—"उस अंग्रेजी पुस्तक की जिल्द, काली भाषा क्लिष्ट विषयों की, विद्यार्थियों से जरा भी सहानुभूति नहीं, बच्चों पर उस समय माता सरस्वती की कुछ भी दया नहीं देख पड़ी। प्रत्येक पाठ्य-विषय की ड्योढ़ी पर सिलेबुलों के द्वारा अलग किया हुआ उच्चारण, और ऐकसेण्टों को देखिये तो आप समझेंगे कि किसी की जान लेने के लिये बन्दूक पर संगीन चढ़ायी गयी है।" अंग्रेजी की पढ़ाई से रवीन्द्रनाथ की उदासीनता देख कर मास्टर सुबोधचन्द्र इन्हें बहुत धिक्कारते थे। इनके सामने एक दूसरे छात्र की प्रशंसा करते थे। परन्तु इस उपमान और उपमेय की छुटाई-बड़ाई यानी इस समालोचना का प्रभाव रवीन्द्रनाथ पर बहुत कम पड़ता था। कभी-कभी इन्हें लज्जा तो आती थी, परन्तु उस काली पुस्तक के अंधेरे में पैठने का दुस्साहस भी एकाएक न कर सकते थे। उस समय शांति का एकमात्र सहारा प्रकृति की कृपा होती थी। प्रायः देखा जाता है, क्लिष्ट विषयों के दुरूह दुर्ग के अन्दर पैठने के लिये हाथ-पैर मार कर थके हुए बच्चे के प्रति दया कर के प्रकृति देवी उसे निद्रा के आराम-मन्दिर में ले जाती है। रवीन्द्रनाथ की भी यही दशा होती थी। पुतलियाँ नींद की सुखद मदिरा पी कर पलकों की गोद मे शिथिल हो कर धीरे-धीरे मुँद जाती थीं। इतने पर भी इन्हें विदेशी शिक्षा की निर्दय चेष्टाओं से मुक्ति न मिलती थी। आँखों में पानी के छींटे लगाये जाते थे। इस दुर्दशा से मुक्ति के दाता इनके बड़े भाई थे। अपने छोटे भाई की शिक्षा-प्रगति को प्रत्यक्ष

करते ही उन्हें दया आ जाती थी। वे मास्टर से कह कर इन्हें छुट्टी दिला देते थे। आश्चर्य तो यह है कि वहाँ से चल कर बिस्तरे पर लेटने के साथ ही रवीन्द्रनाथ की नींद भी गायब हो जाती थी।

नार्मल स्कूल छोड़ कर ये बङ्गाल एकाडमी नाम से एक फिरंगी स्कूल में भर्ती हुए। वहाँ भी अंग्रेजी से इन्हें विशेष अनुराग न था। वहाँ कोई इनकी निगरानी करने वाला भी न था। वह स्कूल छोटा था। उसकी आमदनी कम थी। रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—"स्कूल के अध्यक्ष हमारे एक गुण पर मुग्ध थे। हम हर महीना, समय-समय पर, स्कूल की फीस दे दिया करते थे। यही कारण है कि लैटिन का व्याकरण हमारे लिये दुरूह नहीं हो सका। पाठ-चर्चा के अक्षम्य अपराध से भी पीठ अक्षत बनी रहती थी।"

बचपन में कविता लिखने को इन्होंने एक कापी आसमानी रंग के कागजों की बनाई थी। उसके कुछ पद्य निकल चुके हैं। होनहार तो ये पहले ही से थे। इनकी पहले की कविताओं में प्रतिभा यथेष्ठ मात्रा में मिलती है। लेकिन, निरे बचपन से कविता करते रहने पर भी, इन्हें, कुछ अंग्रेज, कौले और ब्रौनिंग की तरह, बचपन का प्रतिभाशाली कवि नहीं मानते। कुछ भी हो, हमें रवीन्द्रनाथ के उस समय के पद्यों में भी बड़ी ही सरस सृष्टि मिलती है।

पश्चिमी-संसार रवीन्द्रनाथ को नदी का कवि (River poet) मानता है। हैं भी रवीन्द्रनाथ नदी के कवि। उनकी कविताओं में जगह-जगह, अनेक बार, नदी का सौन्दर्य, प्रवाह और तरंगों की मनोहरता दिखलायी गयी है। सफल भी रवीन्द्रनाथ इन कविताओं में बहुत हुए हैं। नदी की कविता उनके लिये स्वाभाविक है। बंगाल नदियों के लिये प्रसिद्ध है। उधर रवीन्द्रनाथ के जीवन का बहुत-सा समय, नदियों के किनारे, उनके प्राकृतिक सौन्दर्य की उदार गोद में बीता है। सौन्दर्य-प्रियता रवीन्द्रनाथ की प्रकृति में उनके पिता की प्रकृति से दूसरी तरह की है। उनके पिता हिमालय शिखर-संकुल प्रदेश पसन्द करते थे, परन्तु रवीन्द्रनाथ को, समतल भूमि पर, दूर तक फैली हुई, हरी भरी, हँसती हुई, चंचल तथा विराट प्रकृति अधिक प्यारी है। जिन्हें रवीन्द्रनाथ आदर्श मानते हैं, वे कालिदास भी पर्वत-प्रिय कवि थे। रवीन्द्रनाथ की मौलिकता की यहाँ भी स्वतन्त्र चाल है।

पन्द्रहवें साल से पहले ही रवीन्द्रनाथ कुछ कविताएँ कर चुके थे। उनकी पहले की कविताएँ और समालोचना 'ज्ञानांकुर' में निकलती थीं। उन दिनों

'भारती' में भी ये लिखा करते थे। पहली और सब से बड़ी इनकी कवि-कथा नाम की कविता 'भारती' में निकली थी। इस समय यह पुस्तिकाकार बिकती है। कहते हैं कि जीवन की इस अवस्था में अंगरेज कवि शेली इन्हें बहुत प्यारा था। चूँकि यह उनकी कविता की पहली ज्योति थी—यौवन-काल की पहली रागिनी थी, इसलिये भावुकता और सर्वलोकप्रियता इसमें बहुत है। जीवन की अधखुली अवस्था में स्वभावत: संसार की ओर बह कर, अपनी धारा में उसे बहा ले चलने की भावना की प्रतिभा हर एक कवि में होती है। यही हाल उस समय रवीन्द्रनाथ का भी था। उनकी निर्जनप्रियता भी हद दर्जे की थी। अपने विकास की उलझनों को एकान्त में बैठे हुए दो-दो और तीन-तीन घण्टे तक वे सुलझाते रहते थे। हृदय की आँख इस तरह खुल रही थी। कुछ दिनों बाद बनफूल ले नाम से इनकी एक दूसरी पुस्तक निकली। यह उनकी ग्यारह से पन्द्रह साल तक की कविताओं का संग्रह था। उन कविताओं से कुछ ही कविताएँ इस समय के संग्रह में रह गयी हैं। बीसवें साल के अन्दर ही अन्दर 'गाथा' नाम की एक पुस्तक और उन्होंने कविता-कहानी में लिखी। रवीन्द्र-नाथ के अंगरेज समालोचक लिखते हैं कि इसे पढ़ कर जान पड़ता है कि रवीद्रनाथ पर इस समय स्काट का प्रभाव था। बीसवें साल के अन्दर ही भानु-सिंह-संगीतों के बीस गाने तक उन्होंने लिख डाले थे। कहते हैं कि इस समय से रवीन्द्रनाथ का यथार्थ साहित्यिक जीवन शुरू होता है।

लेकिन, इस बीसवें साल से पहले जब वे सोलह साल के थे, २० सितम्बर १८७७ को, पहली बार वे विलायत के लिये रवाना हुए थे और साल भर बाद ४ नवम्बर १८७८ को बम्बई वापस आये। 'भारती' में इनकी योरप-पर्यटन पर लिखी गई कुछ चिट्ठियाँ निकल चुकी हैं जिससे सूचित हो जाता है कि योरप उस समय इनके लिये सन्तोषप्रद नहीं हो सका। अरुचिकर चाहे जितना रहा हो, परन्तु सर्वांशत: योरप इनके लिये निष्फल नहीं हुआ। सब से बड़ा लाभ तो इन्हें यही हो गया कि जिस महत्ता को रूप-रस-गन्ध-स्पर्श शब्द और संगीतों द्वारा ये सार्वभौमिक करने के लिये पैदा हुए थे उसके समुद्बोधन के लिये इन्हें वहाँ यथेष्ट साधन मिल गये। पहली बात तो यह कि इन्होंने पृथ्वी का विशाल भाग उचित उम्र में प्रत्यक्ष देख लिया। दूसरी बात, संसार की बहुत-सी सभ्य जातियों की शिक्षा और उनके आचार-व्यवहारों की परीक्षा हो गयी। तीसरे, प्राकृतिक दृश्यों की विचित्रता और हर प्रकृति के मनुष्यों का बाहरी प्रकृति के

साथ आभ्यन्तरिक मेल, उसका वैज्ञानिक कारण, वहाँ जाने पर समझ में आ गया। बर्फ का गिरना और दूर फैली हुई बर्फीली भूमि की शोभा भी वहाँ दृष्टिगोचर हो गयी। अस्तु विलायत पर लिखे गये रवीन्द्रनाथ के पत्र बड़े सरस हैं। यों भी रवीन्द्रनाथ बंगाल के पहले दर्जे के पत्र लेखक है। कभी-कभी बंगाल के पत्रों में इनकी चिट्ठियाँ छपा करती थीं। विलायत से लौटने के कुछ ही दिनों के बाद 'मेघनाद-वध' काव्य पर इनकी एक प्रतिकूल समालोचना निकली। इस पैनी समालोचना पर अब ये हँसते है। कहते हैं, वह शक्ति की पहली अवस्था थी जब 'मेघनाद-वध' काव्य पर लिखी गयी मेरी समालोचना प्रकाशित हुई थी। उस समय मुझे यह ज्ञान न था कि मैं बगाल के अमर कवि की प्रतिकूल समालोचना लिख रहा हूँ।

इन्हीं दिना रवीन्द्रनाथ का 'करुणा' उपन्याम निकला। इस समय अक्सर कवि करुणा के पथिक हुआ करते हैं। संसार के दुख और दाह के चित्रों से उनकी पूर्ण सहानुभूति रहा करती है। 'भग्न हृदय' नामक इस समय की लिखी हुई एक दूसरी पुस्तक में ऐसे ही भावों का समावेश हुआ है। यह पद्य-बद्ध नाटक है। यह रवीन्द्रनाथ की अठारह साल की उम्र में लिखा गया था। सोलहवें साल से तेइसव साल तक की रवीन्द्रनाथ की स्थिति बड़ी चंचल थी। कोई शृङ्खला तब न हो पायी थी। उद्देश्य सदा ही परिवर्तित होते रहते थे।

१८८१ से १८८७ तक का समय रवीन्द्रनाथ के लिये सच्चा साहित्यिक काल है। इस समय उनकी प्रतिभा पूर्ण रूप से विकसित हो गई थी। इसी समय उनकी 'सन्ध्या-सगीत' नामक कविता पुम्तक निकली थी। इसके निकलने के साथ ही, बङ्गाल भर मे रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा चमक उठी। उस समय के बड़े-बड़े विद्वानों तक ने रवीन्द्रनाथ का लोहा मान लिया। कविता की दृष्टि से इनकी ये कविताएँ बड़े महत्व की हैं। उनमें एक विचित्र ढंग की नवीनता आ गयी है जो उस समय के कवियों और समालोचकों के लिये बिल्कुल एक नयी चीज थी। 'बाल्मीकि प्रतिमा' और 'काल-मृगया' दोनों ही संगीत-काव्य है। रवीन्द्रनाथ की नस-नस में धारा बह रही है। इनके अंगरेज समालोचक संगीत की दृष्टि से इन्हें बहुत ऊँचा स्थान देते हैं। उस स्थान के लिये ये योग्य भी हैं। भावों के अतिरिक्त इनके शब्दों में बड़ा जोर है और छन्दों का बहाव जैसा वे चाहें बिल्कुल वैसा ही है। भाषा, भाव और छन्दों पर इतना बड़ा अधिकार, इन पंक्तियों के लेखक को, और कहीं नहीं मिला। उस दिन रवीन्द्रनाथ पर दी

गयी बङ्गला के प्रसिद्ध औपन्यासिक शरतबाबू की यह राय कि "मेरा विश्वास है, भारत में इतना बड़ा कवि नहीं पैदा हुआ" बहुत अंशों में सच है। मुझे भी विश्वास है कि तुलसी को छोड़ कर मुसलमानी शासन-काल से लेकर आज तक इतना वड़ा कवि भारत में नही पैदा हुआ।

'संध्या-संगीत' अलक्ष्य भाव से 'प्रभात-संगीत' की ओर इशारा करती है, जैसे कुछ दिनों में इस नाम की पुस्तक भी निकलने वालो हो। ऐसा ही हुआ। 'सन्ध्या-संगीत' के प्रकाशित हो जाने पर कुछ दिनों में 'प्रभात-संगीत' भी निकला। इसने बङ्गला-साहित्य में धूम मचा दी। इसकी भाषा, इसके भाव, इसके छन्द, सब विचित्र ढंग के; एक बिलकुल अनूठापन लिये हुए। इस तरह की कविता बङ्गालियों ने पहले ही पहल देखी थी, और निस्सन्देह कविताएँ कवित्व की हद्द तक पहुँची हुई हैं। बहुतों को यहाँ तक भी विश्वास है कि रवीन्द्र-नाथ की कविताओं में 'प्रभात-संगीत' के पद्य सर्वश्रेष्ठ हैं, कम से कम ओज और छन्दों के बहाव के विचार से तो अवश्य हो श्रेष्ठ है। फिर इनका 'विविध-प्रसंग' निकला। इसकी भाषा बिल्कुल नये ढंग की है। अपने पुराने उपन्यासों में रवीन्द्रनाथ जिसे आदर की दृष्टि से देखते हैं, वह 'बहू ठाकुरानीर हाट' भी इसी समय निकला था।

रवीन्द्रनाथ के 'प्रभात-संगीत' की कविताएँ आगे दी गयी है। उनसे मालूम हो जाता है कि रवीन्द्रनाथ के हृदय में किस तरह की उथल-पुथल मची हुई थी? ससार से मिलने के लिये वे किस तरह व्याकुल हो रहे थे। हृदय का बंद द्वार कविता के आते ही खुल गया और प्रेम की जो धारा वही, उन्हें उनकी कविताओं के साथ, संसार भर में बहाती फिरी।

१८८३ ई० मे, कुछ समय तक वे करवार—पश्चिमी उपकूल मे रहे। यहाँ वे प्रसन्न रहते थे। यहाँ की प्रकृति—उसकी विशालता—दूर तक फैली, आकाश से मिलती हुई, उन्हें बहुत पसन्द आई। इसी साल, दिसम्बर में २२ वर्ष उम्र में, उनका विवाह हो गया

'प्रकृतिर परिशोध' लिखने के बाद कलकत्ता लौट कर उन्होंने 'छबि ओ गान' लिखा। कलकत्ता, जोड़ासाँको-भवन से वे नजदीक की कुटियों में रहने-वाले निर्धन गृहस्थों का जीवन, दैनिक स्थिति, एकान्त में चुपचाप बैठे हुए देखा करते थे। सहानुभूतिशील कवि-हृदय में उसका प्रभाव पड़े बिना न रहता था। इस पर उन्होंने दुःखान्त एक नाटक लिखा—'नलिनी।' अब यह पुस्तक अप्राप्य

है । इससे बढ़ कर उनका दूसरा दुःखान्त नाटक 'मायार खेला' निकला ।

करवार से लौटने के पश्चात् रवीन्द्रनाथ की मानसिक स्थिति बदल गयी थी । अब पहले की तरह निराशा न थी । आदर्श विहीन जीवन को साहित्य का मजबूत आधार मिल गया था । प्रभात संगीत के निकलने के बाद से जीवन पूर्ण और हृदय दृढ़ हो गया था । साहित्य-लक्ष्य पर स्थित हो जाने के कारण, इधर वे लगातार लेखनी-संचालन करते गये । 'आलोचना' में उनके कई प्रबन्ध निकले । समालोचक, रवीन्द्रनाथ प्रथम श्रेणी के हैं । शब्दों को सजाने और सत्य को लापता करने वाले समालोचकों की तरह ये नहीं है । इनकी समालोचना चुभती हुई, यथार्थ ही सत्य को भाव और भाषा के भूषणों के साथ रखने वाली हुआ करती है । इसी समय, 'राजर्षि' नामक एक उपन्यास इनका लिखा हआ निकला । पीछे से यह नाटक में 'विसर्जन' के नाम से बदल दिया गया । यह उच्च कोटि का नाटक माना जाता है । इसके बाद, 'समालोचना', उनके प्रबन्धों का दूसरा खण्ड प्रकाशित हुआ । इन दिनों बंगाल में वंकिमचन्द्र की तूती बोलती थी । बड़े-बड़े साहित्यिक उनकी धाक मानते थे । उनके उपन्यासों का खूब प्रचार बढ़ रहा था । बंकिमचन्द्र की प्रतिभा की ओर रवीन्द्रनाथ भी आकृष्ट हुए । दोनों मे मित्रता हो गयी लेकिन कोई भी एक दूसरे के व्यक्तित्व को दबा नहीं सका । कुछ ही दिनों बाद मित्रता का परिणाम घोर प्रतिवाद हो गया । रवीन्द्रनाथ की 'हिन्दू-वियाह' पर दी गयी वक्तृता ने दोनों मे विवाद ला खड़ा कर दिया । जिस पर रवीन्द्रनाथ के प्रयोग ज्यादा जोरदार जान पड़ते हैं, समय के खयाल से आदर्श अवश्य ही बकिमचन्द्र का बड़ा था । यह १८८७ ई० का विवाद बड़े ऊँचे दर्जे का है । इसके अतिरिक्त १८८८ ई० में कई और कविताएँ लिख कर रवीन्द्रनाथ ने बालिका-विवाह की खबर ली है ।

यौवन की पूरी हद तक पहुँचने के पहले ही रवीन्द्रनाथ का 'कडी ओ कोमल' पुस्तिकाकार निकला । उनके छन्द और संगीत के संबन्ध पर विचार करने वाले पश्चिमी समालोचकों की समझ में नहीं आया कि रवीन्द्रनाथ पर वास्तव में संगीत का प्रभाव अधिक है या छन्दो का । दोना इस खूबी से परिस्फुर कर दिये जाते हैं कि समालोचकों की बुद्धि काम नहीं देती -- वे जब जिसे देखते है तब उसे ही रवीन्द्रनाथ की श्रेष्ठ कारीगरी समझ लेते हैं । हमारे विचार से रवीन्द्रनाथ दोनों के सिद्ध कवि हैं । संगीत पर उनका जितना जबरदस्त अधिकार है उतना ही अधिकार छन्दों पर है ।

१८८७ ई० से १८९५ ई० तक रवीन्द्रनाथ का साहित्यिक कार्य यौवन की विकसित अवस्था का कार्य है । इस समय उन्हें कोई अशांति नही, घात-प्रतिघातों से चित्त को क्षोभ नहीं होता, सहनशीलता काफी आ गई है और सौदर्य को पराकष्ठा तक पहुँचाने की कुशलता भी हासिल हो गयी । भाषा के पंख बढ़ गये हैं, भावना असीम-स्वर्ग की ओर इच्छानुसार स्वछन्द भाव से उड़ सकती है ।

१८८७ ई० मे रवीन्द्रनाथ गाजीपुर गये । कल्पना की मृदुल गोद का सुकुमार युवक-कवि, हरे भरे दृश्यो से घिरा हुआ, अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये दत्तचित्त हो रहा है । 'मानसी' के अधिकांश पद्य यहीं लिख गये थे । 'मानसी' मे रवीन्द्रनाथ कविता की नन्दन-भूमि मे है—उसके एकमात्र प्रियतम कवि ।

'मानसी' मे, जहाँ, 'भैरवी' जैसी भावात्मक उत्कृष्ट कविताएँ है, वहाँ, 'सूरदासेर प्रार्थना' और 'गुरु गोविन्द' जैसी ऐतिहासिक, शांति-रस से भरे हुए, उच्चकोटि के शिक्षाप्रद पद्य भी है । 'बग-वीर' की तरह हास्य-रस की कविताएँ भी कई है । 'मानसी' पाठकों की मानसी ही है ।

'मानसी के बाद' 'राजा ओ रानी' निकला । यह नाटक रवीन्द्रनाथ के उच्चकोटि के नाटकों मे है ।

गाजीपुर छोड़ने के बाद रवीन्द्रनाथ की इच्छा हुई कि ग्रैण्ड ट्रंक रोड से, बैलगाड़ी पर सवार हो, पेशावर से बगाल तक का भ्रमण करें । लेकिन उनकी इच्छा पूरी नही हो सकी । उनके पिता, महर्षि देवेन्द्रनाथ ने उन्हे आज्ञा दी, 'कुछ काम भी करो' । सियालदा में जमीदारी का काम था । पहले तो काम के नाम से रवीन्द्रनाथ कुछ डरे, परन्तु पीछे सम्मति दे दी । जमीदारी सभालने से पहले दोबारा कुछ काल के लिये वे विलायत हो आये । अब की योरप भर में पर्यटन किया और योरोपियन और जर्मनी संगीत सीख कर लौटे । उनकी यात्रा का विवरण 'योरोपियन यात्री की डायरी' के नाम से निकल चुका है ।

लौट कर सियालदा में जमीदारी सँभालने लगे । इस समय रवीन्द्रनाथ की उम्र तीस साल की थी । तमाम सभ्य संसार के लोगों से मिल कर भारत के संबंध में उन्होने अपना स्वतन्त्र विचार निश्चय कर लिया था । वे समझ गये थे कि देश को शिक्षित करने के लिये किस उपाय का अवलम्ब उचित होगा । वर्तमान शिक्षा देश को ज्ञान के आधार पर स्थित नहीं रख सकती । वह शक्ति इसमें नहीं ।

यह शिक्षा तो नौकरों की ही संख्या बढ़ा सकेगी। इस समय के विचारपूर्ण लेखों में उन्होंने इस सम्बन्ध में लिखा भी है। जितने वर्तमान आन्दोलन हो रहे हैं, इनमे देश को उन्नतिशील करने के अनेक आन्दोलनों पर पहले ही रवीन्द्रनाथ लिख चुके हैं, परन्तु आज उनसे वे अलग कर दिये जाते हैं। इन दिनों जातीय शिक्षा को जो महत्व दिया जा रहा है और जिसके लिये जितने ही राष्ट्रीय स्कूल खुल रहे हैं, इस प्रसंग पर बहुत पहले ही रवीन्द्रनाथ लिख चुके हैं। दूरदर्शिता रवीन्द्रनाथ में हद दर्जे की थी। उनकी प्रखर दृष्टि जिस तरह सौन्दर्य की कुछ बातों का आविष्कार कर लेती, उसी तरह दूरस्थित भविष्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयो को भी वह प्रत्यक्ष कर लेती थी। रवीन्द्रनाथ केवल कवि ही नहीं, वे एक ऊँचे दर्जे के दार्शनिक भी है। यह रवीन्द्रनाथ का साधना-समय था। इस समय के लिये साधना के अंगरेजी व्याख्यानों में रवीन्द्रनाथ की दूरदर्शिता के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। 'भारती' में इन व्याख्यानों का अनुवाद लगातार निकलता और 'भारती' से अन्य पत्रिकाओं में भी उद्धृत हुआ करता था। इस समय रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा सर्वतोमुखी हो रही थी। वे कविता तो करते ही थे, राजनीतिक और दार्शनिक भावनाओं के भी केन्द्र हो रहे थे।

जमींदारी का काम करते समय प्राकृतिक आनन्द रवीन्द्रनाथ को खूब मिलता था। इनकी जमींदारी एक जगह पर नही थी। रवीन्द्रनाथ ने अपने एक प्रबन्ध में, हाल ही में लिखा है, उनकी जमींदारी तीन जिलों में है। हिस्से में बँटी रहने के कारण बोट (छप्पर वाली नाव) पर सवार होकर प्रकृति के मनोहर दृश्यों का अन्तरंग आनन्द प्राप्त करने का इन्हें खासा सुयोग मिल गया। अधिकांश समय पद्मा के विशाल वक्ष:स्थल पर व्यतीत होता था। नदी पर रवीन्द्रनाथ की कविताएं भी बहुत-सी है और सब एक से एक बढ़ कर।

जमींदारी का काम ले कर सर्वसाधारण से मिलने का मौका भी रवीन्द्रनाथ को मिला। वे पहले भी मनुष्य-प्रकृति का निरीक्षण किया करते थे। अपने जोड़ासाँको भवन से लोगों को अनेक प्रकार से नहाते हुए देख कर उन्हें बड़ा आनन्द मिलता था। इस विषय पर वह स्वयं लिख चुके हैं। उसी मकान के इधर-उधर झोपड़ों के रहने वाले निर्धन गृहस्थों का व्यवहार, उनका पारस्परिक आदान-प्रदान, उनकी दिनचर्या आदि देख कर उनके जीवन पर चुपचाप एकान्त में वे विचार किया करते थे। परन्तु यहाँ उन्हें व्यक्तिगत रूप से गरीब किसानो

के साथ व्यवहार करना पड़ा। इससे जीवन की भीतरी अवस्था, उसके सुख और दुःख के चित्र वे अच्छी तरह देख सके। साहित्य का एक अंग और जोरदार हो गया।

जमींदारी के कार्य में रवीन्द्रनाथ ने अच्छी योग्यता दिखायी। कार्य में चारुता आ गयी और जमीदारी पहले से सुधर गयी। रवीन्द्रनाथ ने सिद्ध कर दिया कि प्रबन्ध कार्यों में भी वे दक्ष हैं। उन्होंने कृषि की उन्नति की। कितने ही उपाय पैदावार बढ़ाने के निकाले। लोगों को उनसे सन्तोष हुआ।

इस समय रवीन्द्रनाथ सुखी थे। उनकी दिन-चर्या भी अच्छी थी। उनके लेखों में सूचित है, पद्मा की गोद उन्हें बहुत पसन्द आयी। 'छिन्न-पत्र' के नाम से उनकी कुछ गद्य-पंक्तियाँ और 'चित्रा' इसी समय लिखी गयी थी। चित्रा का स्थान रवीन्द्रनाथ की कविताओं में बहुत ऊँचा है। लेकिन क्रमशः उनकी कविता उन्नति करती गयी। इसलिये कहना पड़ता है कि बाद की कविताएँ और अच्छी हैं। वैसे तो जीवन के अन्तिम दिनों में रवीन्द्रनाथ ने जो कविताएँ लिखी हैं, हमारी समझ में उनका स्थान और ऊँचा है। सौन्दर्य की इतनी मनोहर सृष्टि बहुत कम मिला करती है।

इन्हीं दिनों चित्रांगदा नाटक निकला। रवीन्द्रनाथ के नाटकों में चित्रांगद को जोड़ का दूसरा नाटक नही। यह सौन्दर्य के विचार से कहा जा रहा है। चित्रांगदा पर प्रतिकूल समालोचना बहुत हो चुकी है। बगाल के प्रसिद्ध नाटककार डी० एल० राय महाशय की एक तीव्र आलोचना निकल चुकी है। उन्होंने आदर्श का पक्ष लिया था। चित्रांगदा के सौन्दर्य को आदर्श भ्रष्ट करने वाला करार देते हुए उन्होने समालोचना समाप्त की है। परन्तु रवीन्द्रनाथ की कवित्व-शक्ति की उन्होने मुक्तहस्त होकर प्रशंसा की है। यह सच है कि चित्रांगदा पौराणिक आख्यान के आधार पर लिखी गयी है, इसलिये पौराणिक भावों की रक्षा होनी चाहिये थी, अर्जुन और चित्रांगदा के विषय-वासना की ओर जितना ध्यान रवीन्द्रनाथ ने दिया है, उतना उनकी शुद्धि और सन्तोष पर नहीं दिया। डी० एल० राय का यह विवाद आदर्श की दृष्टि से बुरा न था। परन्तु कुछ भी हो, कवि स्वतन्त्र है। उस पर ये दोष नहीं मढ़े जा सकते। दमयन्ती जैसी सती के सम्बन्ध पर लिखते हुए जैसा नग्न चित्र श्रीहर्ष ने खींचा है, वह उनके नैषध में प्रत्यक्ष कीजिये।

कुछ लोग चित्रांगदा को नाटक न कह कर उत्कृष्ट कविता कहते हैं।

रवीन्द्रनाथ के अंगरेज समालोचक तो चित्रांगदा के अंगरेजी अनुवाद चित्रा पर मुग्ध हैं। वे नाटकों में 'विसर्जन' को रवीन्द्रनाथ का श्रेष्ठ नाटक मानते हैं। साथ ही उनका कहना है कि विसर्जन बंगला-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। इसी समय 'सोनार तरी' निकली। इसकी अधिकांश कविताएँ छायावाद पर हैं। परन्तु हैं बड़ी सुन्दर। यह रवीन्द्रनाथ की नवीनता ले कर आयी। दूसरी कविताओं से इसकी प्रकाशन-धारा बिल्कुल नये ढंग की है। कुछ दिनों बाद 'चिना' निकली। जीवन के प्रथमार्द्ध काल में इससे अधिक मोहिनी सृष्टि रवीन्द्र नाथ की दूसरी नहीं। सौन्दर्य इसमें हद तक पहुँच गया है। कहते हैं इनकी 'उर्वशी' कविता संसार भर की श्रेष्ठ कविता है। उर्वशी आगे, उद्धरण में दी गयी है।

१८९५ ई० मे 'साधना' समाप्त हो गई। इसी साल 'चैताली' के अधिकांश पद्य निकले और १८९६ ई० में कविताओं का पहला संग्रह प्रकाशित हुआ। साधना के आने के कुछ ही समय बाद 'चैताली' छप कर तैयार हुई। 'चैताली' के नामकरण मे भी कविता है। एक तरह के धान चैत मे होते है। उसी के नाम पर चैताली नाम रक्खा गया। चैताली यानी रवीन्द्रनाथ चैत के अन्तिम दाने चुन रहे हैं। १८८४ ई० के १९०० ई० के अन्दर रवीन्द्रनाथ की चार और प्रसिद्ध पुस्तकें निकलीं—कल्पना, कथा कहानी और क्षणिका।

१९०१ में मृत 'बंगदर्शन' में फिर से जान आई—रवीन्द्रनाथ उसके सम्पादक हुए।

इसी साल बोलपुर के पास वाले इनके आश्रम की नींव पड़ी। रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ की यहाँ, ऊँची और खुली भूमि पर, बड़े-बड़े पेड़ देख कर साधना करने की इच्छा हुई थी। अब शांतिनिकेतन के नाम से यह संसार में प्रसिद्ध है। इस समय से ज्यादातर रवीन्द्रनाथ यहीं रहा करते थे। शांतिनिकेतन भारतीय ढंग का विश्वविद्यालय हो, यह रवीन्द्रनाथ की आन्तरिक इच्छा थी। भविष्य के विश्वविद्यालय को वे बतौर एक छोटे से स्कूल के चलाने लगे। कलकत्ता विश्वविद्यालय की शिक्षा से उन्हें बड़ी घृणा थी। वे इसकी बुनियाद तक खोद कर हटा देने के लिये तैयार थे। भारतीय ढंग से बालकों को शांतिनिकेतन में आदर्श शिक्षा मिलती है।

१९०१ ई० से १९०७ ई० तक रवीन्द्रनाथ ने उपन्यास लिखने में बड़ा परिश्रम किया। उनका 'गोरा' उपन्यास इसी समय निकला था। हृदय में

उत्साह भी उमड़ रहा था और वे सदा कर्म-तत्पर भी रहा करते। परन्तु एका-एक उनका सारा हौसला पस्त हो गया। जीवन की धारा ही बदल गई। १९०२ ई० में उनकी स्त्री का देहान्त हो गया। इस समय रवीन्द्रनाथ का धैर्य देखने लायक था। हृदय दो टूक हो गया था, परन्तु शान्त गम्भीरता के सिवा, प्रसन्न मुख पर दुःख की छाया भी नहीं पड़ी। गंभीरता की स्थिति में एकान्तप्रियता स्वभावतः बढ़ जाती है। अतः रवीन्द्रनाथ कुछ दिनों के लिये सांसारिक कुल सम्बन्ध तोड़ कर अलमोड़ा चले गये। उनका छोटा लड़का माता के बिना एक क्षण भी न रहता था। रवीन्द्रनाथ बच्चे के लिये पिता व माता दोनों ही थे।'कथा की कुल कहानियाँ इन बच्चे के दिल-बहलाव के लिये ही लिखी गयी थीं। इसी साल उन्होंने 'स्मरण' लिखा—'स्मरण' उनकी पत्नी की स्मृति पर लिखा गया था। इसके कुछ पद्य मर्मस्पर्शी हैं। सौन्दर्य को हद तक पहुँचाना तो रवीन्द्रनाथ के लिये बहुत आसान बात है। १९०३ ई० में उन्होने एक दूसरा उपन्यास 'दी रेक' लिखा। इसमें हिन्दू परिवार का आदर्श दिखलाया गया है कि परिवार में एक दूसरे के प्रति हिन्दुओं की भाव-भक्ति, प्रेम और सेवा किस तरह की होती है। १९०४ ई० में देश-भक्ति सम्बन्धी पद्यों का संग्रह, 'स्वदेश-संकल्प' के नाम से निकला। इसने बहुत जल्द लोक-प्रियता प्राप्त कर ली। १९०५ में 'खेया' निकली। इसी समय उनके छोटे लड़के की मृत्यु हो गई।

१९०५ ई० में बंग-भंग आन्दोलन आरम्भ हुआ। बंगाल के कोने-कोने से एक ही आवाज उठने लगी। देश भक्ति दिखलाने का यह समय भी था। उस समय दल के दल बङ्गाली युवक स्वदेशी संगीत गाते हुए देश की जनता में नई आग फूंक रहे थे। परन्तु इस समय जितनी जोरदार आवाज रवीन्द्रनाथ की थी उतनी किसी दूसरे की नहीं सुन पड़ी। कहते हैं कि राजनीति सम्बन्धी रवीन्द्र-नाथ जैसे जोरदार और तर्क-सम्बद्ध प्रबन्ध अंगरेजी साहित्य में भी बहुत कम निकलेंगे। विजय-मिलन, नामक वक्तृता रवीन्द्रनाथ के जोशीले गद्य का उदा-हरण है।

× × ×

कवीन्द्र रवीन्द्र एकाधार में दार्शनिक, वक्ता, लेखक, उपन्यासकार, नाट्य-कार, सुकवि और अच्छे अध्यापक हुए। आप अपनी नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को जब जिस ओर लगाते, वहीं वह अपना कमाल दिखा देती थी।

आपने अपने सुशिक्षित कुटुम्ब के लेखों के सहारे 'भारती' नाम की एक उच्च कोटि की साहित्यिक पत्रिका निकाली। आप ही उसके सम्पादक थे। यह पत्रिका बाद को आप ही की कुटुम्ब भुक्ता श्री सरलादेवी चौधुरानी के सम्पादकत्व में और इसके बाद अन्य कई प्रवीण साहित्यिकों के सम्पादकत्व में निकलती रही और आज भी निकल रही है। बङ्ग भाषा के सामयिक साहित्य में इस पत्र का बहुत ऊँचा स्थान सदा से रहा। इन दिनों आप बङ्गदर्शन, प्रवासी मावंच तथा विभिन्न पत्रों में अपनी उत्कृष्ट कहानियाँ, लेख और कविताएँ प्रकाशित कराया करते थे। आपकी इन कृतियों से समस्त बंगला में स्फूर्ति होती थी। लेखों में आपके विचार सर्वथा नये होते थे; अतएव कभी-कमी प्रवीण साहित्यिक, साहित्यिक रवीन्द्र की प्रतिभा की उपेक्षा करना चाहते थे और उसका विरोध भी कर बैठते थे। पर आपका तो उस समय साहित्यकार सिक्का जम रहा था। इसलिये उन विरोधों को किसी ने परवाह न की। रवीन्द्र द्वारा लिखित साहित्य दिन-दिन जनता का आदर प्राप्त करने लगा। रवीन्द्र बङ्गभाषा साहित्य के बहुत ऊँचे सिंहासन पर अधिष्ठित हो गये।

अपनी मातृभाषा की सेवा करते-करते ही रवीन्द्र की प्रतिभा ने और भी चमत्कार दिखाना चाहा। अंगरेजी भाषा पर आपका यथेष्ट आधिपत्य था। अतएव अब आपने अंगरेजी में भी अपनी कहानियाँ, लेख तथा कविताएँ लिखनी शुरू कीं। उनका प्रकाशन होते ही अंगरेजी पठित जनता में आपके अँगरेजी साहित्य में अवतरण करने का खूब स्वागत हुआ। फिर तो आप धारावाहिक रूप से बङ्गाल और अंगरेजी दोनों भाषाओं के पत्रों में अपने पुख्ता विचार भरे लेख प्रकाशित कराने लगें। इन लेखों ने अंगरेजी साहित्य पर अपनी धाक जमा दी। उससे ही अंगरेज आपका प्रतिभा और पाण्डित्य के कायल हो गये। अब रवीन्द्र को भला फुर्सत कहाँ ? इंग्लैण्ड और अमेरिका के पत्रों ने रवीन्द्र के लेखों को 'माडर्न रीव्यु' आदि पत्रों से उद्धृत कर अपने पत्रों की लोकप्रियता बढ़ायी। इसके बाद ही आपने अंगरेजी में अपनी चुनी हुई कहानियों का एक संग्रह किया, जो कि लण्डन के एक प्रसिद्ध पुस्तक-विक्रेता ने प्रकाशित कराया उसके प्रकाशित होने के साथ ही लाखों प्रतियाँ खप गयीं। संस्करण पर संस्करण हुए उसके। फिर तो आपने अपने कई उपन्यास भी अंगरेजी में अनुवाद कर प्रकाशित कराये और उनका अच्छा आदर हुआ।

रवीन्द्र बाबू लार्ड मेकाले की शिक्षण-पद्धति के चिर-काल से विरोधी थे।

उसकी व्यर्थता का अनुभव आपको बहुत दिनों पूर्व हो चुका था। एम० ए० और बी० ए० डिगरीधारी अंगरेजी शिक्षण-पद्धति के चरम स्वर तक पहुँचे हुए विद्यार्थियों का उद्देश्य-हीन, स्वदेशीय भावहीन जीवन आपकी निगाहों में बहुत दिनों से खटकता था। अतएव अपने देश बालक और बालिकाओं को वास्तविक शिक्षा से शिक्षित करने वाले एक आदर्श शिक्षालय स्थापन की कल्पना आपके मस्तिष्क में बहुत दिनो से उठ रही थी। उसकी सिद्धि के लिए विलक्षण कार्य क्रमपूर्ण योजना का निर्माण कर आपने पहले उसे मित्रों, फिर सर्वसाधारण में उपस्थित किया। सभी ने उस योजना का हृदय से अनुमोदन किया और हर सम्भव प्रकार से सहायता भी प्रदान की। परिणाम यह हुआ कि रवीन्द्रनाथ लगन, कल्पना और कार्य-तत्परता ने अत्यन्त शीघ्र, प्राची विद्यापीठों के आदर्श-पर शिक्षा के सर्वाङ्गों से पूर्ण एक शान्ति-निकेतन नाम का आश्रय 'बोलपुर' की पवित्र हरिद्भूमि में स्थापित कर दिया। स्वयं रवीन्द्र ही हुए उसके आचार्य, बङ्गाल के नहीं, भारत के—नहीं नहीं विश्व के विज्ञान से विचक्षणी भूत विद्वान् हुए इसके अध्यापक और हुआ इसमें आदर्श शिक्षा आरम्भ। देवर्षि तुल्य ठाकुर द्विजेन्द्रनाथ इसके तत्वाध्यापक बन कर वहीं जीवन व्यतीत करने लगे। वे रवीन्द्र बाबू के बड़े भ्राता थे। इस युग के आदर्श तपस्वी थे। ज्ञान की अत्यन्त उच्च सीमा प्राप्त कर ली थी उन्होंने। इसका पाठ्यक्रम भी सर्वाङ्ग पूर्ण रखा गया। जिन्होंने इस संस्था को देखा है, उनका स्पष्ट मत है, भारत में इस जोड़ की दूसरी शिक्षण-संस्था नहीं है। इसमें शिक्षा पाया हुआ विद्यार्थी सच्चा विद्वान् हो जाता है। रवीन्द्र ने इसकी अविवृद्धि में गजब का परिश्रम किया है।

शान्तिनिकेतन की सुव्यवस्था कर साहित्यव्रती रवीन्द्र फिर अपने व्रत में लग गये। आपने इस बार कुछ अद्भुत भावपूर्ण क्षुद्र कविताएँ लिखनी आरंभ कीं। और इसी समय हुआ उनका विदेश-भ्रमण। इस भ्रमण में प्रकृति देवी का आपने अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण किया। स्वाभाव के कितने ही नूतन भाव मालूम हुए उन्हें। आध्यात्मिक भावों के तो आप पहुँचे हुए प्रेमी ठहरे। इन सभी भावों और देश-विदेश के साहित्य अध्ययन तो अनुभव ने आपनी प्रतिभा का और भी विकास किया और इसके बाद जो लेखनी उठी, उसने तो कमाल ही कर दिया।

यह कमाल गीतांजलि हुई। गीतांजलि बङ्गाल की गीता बन गयी। घर-

घर, कण्ठ-कण्ठ पर नृत्य करना शुरू किया उसने। रवीन्द्र के परम मित्र मिस्टर एण्ड्रूज ने भी सुना उसे। वह लोट पोट हो गया उसके भावों पर और उसने छाती ठोंक कर कहा संसार के सम्मुख कि विश्व-साहित्य भर में इस जोड़ा का ग्रन्थ नहीं निकलेगा। रबि बाबू को उसने गीतांजलि को अंगरेजी में लिखने के लिये प्रेरित किया। कवि की समझ में यह बात आ गई और जुट गये थे वे अंगरेजी गीतांजलि को लिखने में। पुस्तक पूरी हुई और सुन्दर प्रकाशन हुआ उसका। अंगरेजी साहित्य में निकलते हा तो एण्ड्रूज की वाणी सत्य हुई। तहलका मचा दिया अगरेजी साहित्य में उस ग्रन्थ रत्न ने। विश्वद्रष्टा की उस पर नजर गयी। उन्होंने उसे पढ़ा, अपनी कसौटी पर कसा और विशेष लक्षण युक्त पाया। पत्रों में उसकी चर्चा हुई। काव्य के मर्मज्ञों ने उसे विश्वसाहित्य का एक आभापूर्ण रत्न बताया और यूरोप की सबसे बड़ी साहित्यिक संस्था 'विज्ञान-कला-साहित्य-परिषद्' का ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ। परिषद् के सदस्यों ने रवि बाबू की गीतांजलि को देखा और उसे विश्वसाहित्य की 'सर्व-त्तेष्ठ पुस्तक' करार देकर नोबिल प्राइज का आदर्श पुरस्कार पाने का हकदार बताया। परिषद् ने रवीन्द्र को एक लाख बीस हजार का सर्वविश्रुत पुरस्कार प्रदान किया और अपनी गुणग्राहकता से सिद्ध किया कि रवीन्द्र 'कवीन्द्र' है।

इस पुरस्कार को पाने से रवीन्द्र की अत्यधिक ख्याति हुई। गीतांजलि के संस्करण पर संस्करण और संसार की सभी श्रेष्ठ भाषाओं में उसके अनुवाद हुए। संसार एक भारतीय की उस अद्वितीय प्रतिभा को देख कर दंग रह गया। उसमें जो अद्‌भुत दार्शनिक तथा आध्यात्मिक भाव भरे हुए थे, उनके आगे सभी ने श्रद्धा के साथ अपने-अपने मस्तिष्क झुकाये।

इस विश्व-श्रद्धा को पाकर रवीन्द्र भारत के पूज्य महापुरुष प्रसिद्ध हुए। अमेरिका, जापान, चीन, जर्मनी, जिनेवा, इटली, फ्रांस और इङ्गलैड की राष्ट्रीय संस्थाओं ने कवीन्द्र को अपने यहाँ आने के लिए निमंत्रण दिये, जिनकी रक्षा रवि-बाबू ने क्रमशः कई बार यूरोप यात्रा करके की। चीन, जापान, अमेरिका, इटली और फ्राँस में रवीन्द्र बाबू ने वहाँ की प्रसिद्ध संस्थाओं में अपने दार्शनिक भाव भरे विचार काव्य-कुशल भाषा में व्याख्यान रूप में प्रकट किये। प्रत्येक संस्था, पर सुन्दर लेखों द्वारा अपने भावों का प्रकाशन किया और विश्व-प्रेम में आबद्ध होने के लिये सब राष्ट्रों के विद्वानों से अनुरोध किया।

आपकी इस विद्वत्ता पर विदेशी ही मुग्ध हुए हों, सो नहीं, भारत गवर्नमेंट

ने भी आपको नाइट या 'सर' तथा 'डि लिट्' जैसी सर्वोच्च उपाधियों से विभूषित किया।

रविबाबू जैसे कुशल साहित्य निर्माता हैं, वैसे ही उत्कृष्ट संगीतज्ञ और सफल अभिनेता भी हैं, आपने अपने लिखे नाटकों में प्रधान पात्रों का स्वयं पार्ट किया है। कलकत्ता, बोलपुर में हुई नाटकों में तो आपने अपनी नाटचकारिता का परिचय दिया ही है साथ ही यूरोप के विभिन्न देशों में भी आपने नाटक स्वयं खेले और उनमें यशप्रद अभिनय कर वहाँ की जनता को मुग्ध किया है।

इस सब बातों के अलावा कवि रवीन्द्रनाथ भारत के आदर्श समाज-सुधारक हैं। और वह सुधार आजकल के अन्यान्य सुधारकों की भाँति केवल सिद्धान्तों में ही सीमित नहीं है, आपके चरित्र और प्रत्येक कार्य में उसका निदर्शन मिलता है। आपका परिवार भी एक उत्कृष्ट सुधरा हुआ परिवार है। जैसी आपकी सुधार सम्बन्धी उचित है, वैसी ही आपकी कृति भी है। भारत के राजनीतिज्ञों मे—तेश देताओं में भी आपका एक खास स्थान है। स्वदेश-प्रेम के आप जीवन्त स्वरूप हैं। देशी प्रत्येक बड़ी-बड़ी समस्याओं में आपने सदा भाग लिया है और उन पर बड़ी निर्भीकता से अपने विचार प्रकट किये हैं। आपका यह स्वदेश-प्रेम केवल लेखों और व्याख्यानों तक ही रहा हो यह नहीं, परन्तु आपने उसके लिये अपूर्व स्वार्थ त्याग अपनी असीम निर्भीकता का भी परिचय दिया है।

सन् १९१८ के रालेक्ट एक्ट के विरुद्ध देश के संगठित सत्याग्रह की बात लोग भूले न होंगे। उस समय भारत की नौकर शाही ने पंजान में जो नर-संहार लीला की थी, वह उसके जीवनोतिहास की अत्यन्त कालिमा पूर्ण कथा है। रवि बाबू ने जिस दिन पंजाब के मार्शलला के अमानुषिक अत्याचारों की बात मुनी, उस समय आपके स्वदेश प्रेम प्लावित हृदय की बड़ी भारी चोट पहुँची। भारत की पश्चिमी दिशा की लगी हुई चोट का प्रत्यावात पूर्व दिशा को अनुभूत हुआ और खूब हुआ। रवि बाबू की देश-प्रेणता जागी। आपने बड़ी निर्भीकता से नौकरशाही के पंजाबी नृशंस अत्याचारों पर धोर घृणा प्रकट की, पुरजोर शब्दों में बड़ी निन्दा की और तत्काल सरकार की दी हुई 'नाइट' आदि की उपाधियाँ वाइसराय के पास लौटा कर अपने अनुपम सहयोग का परिचय दिया। उस दिन भारत में जाना कि रविबाबू में आवश्यकता पडने पर अनुपम स्वार्थ त्याग कर दिखाने योग्य भी आत्मबल है।

एक उसी बार आपने सरकार के उच्च पदस्थ अफसरों को फटकारा हो सो नहीं, पिछले दिनों बंगाल के गवर्नर सर लिटन साहब ने जब अपने एक व्याख्यान में भारतवासियों को अत्यन्त अपमान कारक शब्दों में स्मरण किया, रवीन्द्र बाबू ने उस स्मरण को भारतीय नारी जाति का महान् अपमान माना, और लार्ड लिटन की खुले खजाने वह फिटकार बताई कि लाट साहब उसकी सफाई ही देते फिरे।

रबि बाबू का जीवन-पथ बहुत विस्तृत है। उन्होंने अपने लोकोत्तर कार्यों से भारत का मुखोज्वल किया है। आज विश्व सभा में भारत को एक आदर पूर्ण स्थान रवीन्द्रनाथ ने ही दिलाया है।

प्रतिभा का विकास

यों तो आत्म-विश्वास सभी मनुष्यों को होता है—सभी लोग अपनी शक्ति का अन्दाजा लगा लेते हैं, फिर कवियों और महाकवियों के लिये यह कौन बहुत बड़ी बात है। दूसरे लोगों को तो अनुमान मात्र होता है कि उनमें शक्ति की मात्रा इतनी है, परन्तु वे उस अनुमान को विषद रूप से जन-समाज के सामने रख नहीं सकते; कारण, उन पर वागवी की वैसी कृपा-दृष्टि नहीं होती; परन्तु जो कवि हैं, उन्हें जब अपनी प्रतिभा का ज्ञान हो जाता है तब वे, दूसरों की तरह निर्वाक रह कर अथवा थोड़े ही शब्दों में, अपनी प्रतिभा का परिचय नहीं देते। वे तो अपने लच्छेदार शब्दों में पूर्ण रूप से उसे विकसित कर दिखने की चेष्टा करते हैं। नहीं तो फिर सरस्वती के वरदपुत्र कैसे ? महाकवि श्रीहर्ष ने अपने नैषध-काव्य की अध्याय-समाप्ति में और कहीं महाकवि भवभूति ने भी, कैसे पुरजोर शब्दों में अपने महत्व की याद की है, यह संस्कृत के पण्डितों को अच्छी तरह मालूम है! परन्तु कवियों और महाकवियों के लिये इस तरह का वर्णत न तो अतिशय-कथन कहा जा सकता है और न प्रलाप ही। यह तो उनके आत्म-परिचय के रूप में किया गया उनका उतना ही स्वाभाविक उद्गार है जितना प्रकृति का बसन्त। अस्तु, प्रतिभा के विकास-काल में महाकवि रवीन्द्रनाथ किस तरह से हृदय की बातें खोल रहे हैं, सुनिये :—

"आजि ए प्रभाते सहसा केरने
पथहारा रबि-कर
आलय न पेय पड़ेछे आसिये
आमार त्राणेर पर

बहु दिन परे एकटी किरण
गुहाय दियेछे देखा
पड़ेछे आमार आंधार सलिले
एकटी कनक-रेखा।"

(आज इस प्रभात के समय, सूर्य की एक किरण एकाएक अपनी राह क्यों भूल गई, यह मेरी समझ में नहीं आता। वह कहीं ठहरने की जगह न पा, मेरे प्राणों पर आ कर गिर रही है। मेरे हृदय की कन्दरा में बहुत दिनो के बाद किरण दिखायी दे रही, है—मेरी अन्धकार सलिल राशि पर सोने की एक रेखा खिंची हुई है!)

पाठक! वर्णना की मनोहारिता पर ध्यान दीजिये। हृदय की इस उक्ति को अपने विचार के तराजू पर तोल कर देखिये, यह पूरी उतरती है या स्वाभावोक्ति में कहीं कोई कसर, कोई त्रुटि, कोई वाचालता, कोई बनावट या कोई मनगढ़न्त है।

कवि हृदय का यह प्रथम प्रभात है। बाहर जिस किरण को पा कर कवि ने इतनी उक्तियाँ कही हैं, वह किरण बाहरी संसार के भगवान भुवन-भास्कर की किरण नहीं, वह वनदेवी की ही प्रतिभा की किरण है—उसी की कनक-रेखा कवि के हृदय पट पर खिंच गयी है। बहुत दिनों तक हृदय में अन्धकार का राज्य था, वहाँ किसी तरह की ज्योति पहुँच न सकती थी। कवि भी अँधेरे में पड़ा हुआ था। जिस दिन हृदय में एकाएक इस कनक किरण का प्रवेश हुआ, कवि चौक पड़ा। अपन महान स्वरूप को देख कर वह मुग्ध हो गया। उसे पहले स्वप्न में भी यह विश्वास न था कि वह इतना महान् है—उसके भीतर इतनी शक्ति है—इतनी विशालता है। वह इस सम्बन्ध में स्वयं कहता है—

"प्राणेर आवेग राखिते नारि,
थर थर करि कांपिछे वारि,
टलमल जल करे थल थल,
कल कल करि धरेछे तान।
आजि ए प्रभाते कि जानि केरने
जागिया उठेछे प्राण!

(मैं अपने प्राणों के आवेग को रोक नहीं सकता। मेरे हृदय की सलिल-

राशि थर-थर कांप रही है। जल टलमल कर रहा है—उथल-पुथल मचा रहा है—कल-कल स्वर से रागिनी अलाप रहा है। आज इस प्रभात में मेरे प्राण क्यों जग पड़े, यह मेरी समझ में नहीं आता !)

देखा आपने ? यह काव्य-प्रतिभा के प्रथम विकास का समय है। हृदय खुल गया है। हृदय-सरोवर की सलिल-राशि छोटी-छोटी लहरियों से मचल रही है। कवि को यह देख कर आश्चर्य हो रहा है। उसने अपने जीवन-काल में अपनी अवस्था का इस तरह विपर्यय कभी नहीं देखा। यह सब उसकी समझ में नहीं आता। वह आश्चर्यचकित-सा अपने हृदय में लहरियों की चहल-पहल देख रहा है, उनके मृदु शब्दों में रागिनी की स्पष्ट झंकार सुन रहा है और वही रागिनी संसार को वह सुना रहा है।

जब तक कवि के हृदय की आँखें नहीं खुली थीं तब तक उसे अपनी पूर्व अवस्था का भान न था—जिस अंधकार में पहले वह था, उसके सम्बन्ध में वह कुछ भी न जानता था। अँधेरे में पड़ा हुआ ही वह अपने सुख के कितने ही स्वप्न देखा करता था किन्तु उसे अँधेरा न जानता था, इसलिये कहता है—

"जागिया देखिनु चारिदिके मोर
पाषाणेरमित कारागार घोर
बुकेर उपरे आंधार बहिया
करिछे निजेरे ध्यान
नाजानि केनरे एतो दिन परे
जागिया उठेछे प्राण !"

(जग कर मैंने देखा, मेरे चारों ओर पत्थरों का बनाया हुआ घोर कारागार है, और मेरी छाती पर बैठा हुआ अन्धकार अपने ही स्वरूप का ध्यान कर रहा है। इतने दिनों बाद क्यों मेरे प्राण जग पड़े, यह मेरी समझ में ही नहीं आता।)

जब कवि की आँखें खुल जाती हैं, उसे अच्छे और बुरे का विवेक हो जाता है, तभी वह अपनी और दूसरों की परिस्थिति का विचार कर सकता है। महाकवि रवीन्द्रनाथ जग कर देखते हैं कि उनके चारों ओर पत्थरों का कारागार है। भला यह पत्थरों का कारागार है क्या चीज ? इसके यहाँ कई अर्थ हो सकते हैं और सभी सार्थक। पहले तो यह कहना चाहिये कि यह अज्ञान है क्योंकि जग कर कवि ने पहले अपनी पूर्व-परिस्थिति यानी अज्ञान को ही

देखा होगा। भयानक अवस्था में पड़े हुए भी जिसका ज्ञान कवि को नहीं हो रहा था, पहले उसी की मूर्ति देखी होगी। अर्थात् ज्ञान होने पर पहले कवि ने अपने अज्ञान का अनुभव किया होगा। परन्तु कवि कहता है, मेरे चारों ओर पत्थरों का घोर कारागार है। इस 'चारो ओर' शब्द से सूचित होता है कि कवि को बाहर भी घोर अज्ञान देख पड़ा होगा—उसे बाहर के मनुष्य—उसके पास-पड़ोस वाले भी अज्ञान-दशा में दीख पड़े होंगे। कवि का यह दर्शन निरर्थक नहीं। उसके चारों ओर जो प्रकृति नजर आई, वह भारत है। यहाँ पत्थर के कारागृह में कवि के साथ भारत भी है। आगे की पंक्ति में यह अर्थ और समझ में आ जाता है। जहाँ कवि कहता है,—हृदय पर अंधकार बैठा हुआ अपना ध्यान कर रहा है, वहाँ अंधकार के साथ कवि अपने मोह का उल्लेख करता है और देश को दुर्दशाग्रस्त करने वाले विदेशियों का भी। यहाँ विदेशियों की तुलना अन्धकार के साथ करके, उसे अपने और साथ ही देश के हृदय पर बैठ कर अपना ध्यान करता हुआ यानो अपना स्वार्थ निकालता हुआ बतला कर कवि देश की दुर्गति का चित्र ही आँखों के सामने रख देता है। यह अंकन इतनी सफलतापूर्वक किया गया है कि इसकी प्रशसा के लिये कोइ योग्य शब्द ही नहीं मिलता। यह पद्य एक ही अर्थ की सूचना नही देता, उसका पहला अर्थ खुला है, और वह पढ़ने के साथ पहले आध्यात्मिक भाव की ओर इंगित करता है। हृदय ज्ञान होने से पहले अन्धकाराच्छन्न हो रहा है। वहाँ किसी प्रकार का प्रकाश प्रवेश नहीं कर पाता। अन्धकार वहाँ बैठा हुआ अपने ध्यान में मग्न है। हृदय में अनेक प्रकार की अविद्याओं का राज्य हो रहा है। अविद्या के प्रभाव से वहाँ जितने प्रकार के अनर्थ हो सकते हैं, हो रहे हैं। ऐसे समय एका-एक हृदय पर की वह काली यवनिका उठ जाती है, वहाँ विद्या का प्रकाश फैल जाता है। अचानक यह परिवर्तन देख कर कवि अपने प्रकाश पुलकित दृश्य से कह उठता है—आज इतने दिनों बाद मेरे प्राणों में यह कैसा जागरण हो गया ?

अपने प्रेम और आनन्द के अनादि प्रवाह में बहता हुआ कवि कहता है—

"घुमाये देखिरे जेन स्वपनेर मोह माया,
पड़ेछे प्राणेर माझे एकटी हासिर छाया।
तारि मुख देखे देखे, आंधार हासिते सेखे,

तारि मुख चेये चेये करे निशि-अवसान,
सिहरि उठेरे वारि दोलेरे दोलेरे प्राण,
प्राणेर माझारे भासि, दोलेरे दोलेरे हासि,
दोलेरे प्राणेर परे आशार स्वपन मम
दोलेरे तारार छाया सुखेर आभास सम।
प्रणय प्रतिमा जबे स्वपने देखेरे कवि,
अधीर सुखेर भरे कांपे बुक थरे थरे,
कम्पमान वक्ष परे दोले से मोहिनी छवि,
दुखीर आधार प्राणे सुखेर संशय यथा,
दुलिया दुलिया सदा मृदु मृदु कहे कथा;
मृदु भय, कभु मृदु आश
मृदु हासी, कभु मृदु श्वास।
बहु दिन परे सोन विस्मृत गानेर तान,
दोलेरे प्राणेर माझे दोलेरे आकुल प्राण;
आध, आध, जागिछे स्मरणे,
पड़े पड़ नाहीं पड़े मने।
तेमनी तेमनी दोले, ताराटी आमार कोले,
कर तालो दिये वारि कल कल गान गाय
दोलाये दोलाये जेनो घूम पड़ाइते चाय!"

(सोते हुए मैंने देखा, स्वप्न की मोह-माया की तरह मेरे प्राणों में हँसीकी एक छाया पड़ी हुई है। उसी का मुँह देख देख कर अन्धकार भी हँसना सीखता है और उसी का मुँह जोहता हुआ वह रात्रि का अवसान कर देता है; (यह देख) पानी भी सिहर उठता है और मेरे प्राण भी झूमते रहते हैं। प्राणों के भीतर तैरती हुई हँसी भी झूम रही है—उसमें भी मन्द-मन्द कम्पन हो रहा है और मेरे प्राणों में मेरी आशा का स्वप्न झूम रहा है और वहाँ झूमती-हिलती-काँपनी है सुख के आभास की तरह तारों की छाया। जब स्वप्न में कवि अपनी प्रणय-प्रतिमा को देखता है, तब अधीर—सुख पर निर्भर—हृदय थर-थर काँपने लगता है और उस कम्पमान हृदय पर काँपती है वह मोहनी छवि—जिस तरह दुखी के हृदय पर अन्धकार—प्राणों में सुख का संशय सदा काँप-काँप कर मृदु-मृदु बातें किया करता है। जिसमें मृदु भय भी है और कभी मृदु आशा

भी झलक जाती है—मृदु हंसी है और कभी मृदु सांस भी बह चलती है। वह बहुत दिनों के बाद सुनी हुई भूलें संगीत की तान हैं, जो प्राणों में काँप रही है और जिससे प्राण भी काँप रहे हैं, जिसकी अध-मुदी स्मृति मेरे स्मरण-पथ पर जग रही है—अभी अभी आती है और फिर मुझे विस्मृति में छोड़ जाती है—इसी तरह वह तारा मेरी गोद में कांप रहा हैं, लहरियाँ तालियां बजा-बजा कर गाती हैं, मुझे भूले में भुला कर मानों सुला देना चाहती हैं।)

जागरण के बाद यह कवि का आनन्दोद्गार है। वह सो रहा था—दृष्टि के आगे अँधेरा ही अँधेरा छाया हुआ था; ऐसे समय एक छोटी-सी तरंग की तरह स्वप्न की सुन्दरता और चंचलता की तरह उसके हृदय में हँसी की एक बहुत छोटी लहर उठती है—अपने कंपन के साथ—अपनी मृदु चंचलता के साथ—उसे भी चंचल कर देती है—उसे भी कंपा देती है। यहाँ कवि के दार्शनिक ज्ञान का भी आभास मिलता है और कविता में युक्ति की पुष्टि। कवि के हृदय में जब चक्राकार हँसी की हिलोर उठती है तब उसके साथ केवल वही नहीं किन्तु सम्पूर्ण विश्व-छवि उसे डोलती हुई और हँसती हुई नजर आती है। उसकी हँसी के मृदु कंपन के साथ अन्धकार हँसता है, पानी की हिलोरें हँसती है, तारों की छाया में हँसी का कंपन भर जाता है, स्वप्न की प्रणय-प्रतिमा हृदयके नृत्य के साथ-साथ हँसती है। दार्शनिक कहते हैं, जैसा भाव हृदय में होता है, बाहर भी उसी भाव की छाया देख पड़ती है। जब दु.ख होता है तब जान पड़ता है, सम्पूर्ण प्रकृति खून से आँसू बहा रही है और जब हृदय में आनन्द का नृत्य होता है तब प्रकृति के पल्लव-पल्लव में उसे आनन्द का नृत्य देख पड़ता है। इस तरह दार्शनिक भीतर की प्रकृति और बाहर की प्रकृति में कोई भेद नहीं बतलाते। यहाँ महा-कवि रवीन्द्रनाथ की जागृति के साथ ही जिस हँसी की छाया आ कर उनके प्राणों को खिला जाती है, उसके साथ हम देखते है, विश्वम्भर की प्रकृति कवि के इस आनन्द-स्वर में अपना स्वर मिला कर उनकी मनोनुकूल रागिनी गाने लगती है। इस हँसी के चरित्र चित्रण में आपने कमाल किया है। अन्धकार को हँसा कर। जो अंधकार पहले छाती का डाह हो रहा था, वह कवि की इस हँसी का मुंह देख-देख हँसना सीख रहा है। 'तारि मुख देखे-देखे, आँधार हासिते सेखे'—इसका मुख देख-देख कर अंधकार हँसना सीखता है, इस वाक्य में साहित्य के साथ मनोविज्ञान की पूरी छटा है। अंधकार स्वभावतः गम्भीर है। उसके लिये हँसना अपनी प्रकृति का अपमान करना है। और पहले कवि

ने उसकी क्रूरता का ही दिग्दर्शन कराया है; यही नहीं किन्तु उसे बड़ा ही निठुर और ममतारहित—स्वार्थ पर बतलाया है। ऐसी दशा में, यदि कवि अपनी सम्पूर्ण भीतरी और बाहरी प्रकृति के साथ उसे भी हँसाते तो मजा कुछ किरकिरा हो जाता। दूसरे कवि उसे हँसाना चाहते तो एकाएक हँसा दे सकते थे, परन्तु रवीन्द्रनाथ जैसे कुशल चित्रकार ऐसी भूल कब कर सकते थे? उन्होने उसे हँसाया नही किन्तु वे अपनी हास्यमयी प्रकृति से उसे मुग्ध करके हँसाना सिखा रहे हैं। उनकी हँसी की हिलोर में अन्धकार का भी हृदय बिछल जाता है, वह भी हँसना चाहता है परन्तु पहले कभी न हँसने के कारण वह हँस नही सकता—वह हास्यमयी प्रकृति का मुँह देखना चाहता है कि हँसे पर हँस नहीं सकता, अतएव हँसना सीख रहा है। यहाँ एक बात और ध्यान देने लायक है। पहले अन्धकार की निर्दयता दिखलायी जा चुकी है, विदेशियों की क्रूर प्रकृति के साथ भी उसकी तुलना की गई। परन्तु अब रवीन्द्रनाथ अपनी हास्यमयी प्रकृति की छटा दिखा कर उसे अपनी ओर इस तरह खींच लेते हैं कि उसे भी हँसने की इच्छा होती है—परन्तु क्रूर एकाएक हँस नहीं सकता—उधर हँसी का जमा हुआ रंग भी उस पर इस तरह पड़ जाता है कि वह अपने स्वभाव को वहाँ भूल जाता है और निर्दयता की अपेक्षा हास्य को ही ज्यादा पसन्द करता है, इसीलिये हँसना सीखता है। इससे सिद्ध है कि अपनी निर्भय और स्वाभाविक प्रसन्नता के द्वारा क्रूरों के मन पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है। देश की ओर रवीन्द्रनाथ का यह भी एक बहुत बड़ा इशारा है और यौक्तिक तथा दार्शनिक-तत्व की एक बात और कवि ने इन पंक्तियों में कह डाली है। पहले जीवन में अन्धकार था। जीवन का अन्धकार मोह-मय था अतएव निश्चेष्ट था, उसमें कोई भी क्रियाशीलता न थी, वह जड़ था। जब विद्या की ज्योति हृदय में पहुँची, जागृति का युग आया, तब हृदय के मधुर स्पन्दन के साथ विश्व-संसार में कम्पन भर गया,—तब हृदय के साथ सारी प्रकृति नृत्यमयी हो गई—स्वप्न में नर्तन, हृदय में नर्तन प्रणय की प्रतिमा में नर्तन, सुख की निर्भरता में नर्तन, मोहनी प्रतिमा में नर्तन, स्मृति और अधमुदी विस्मृति में नर्तन, तारों में नर्तन, जल की लहरियों में नर्तन और सोते समय के झूले में नर्तन होने लगा—सब में जीवन की स्फूर्ति आ गयी—पहले की-वह जड़ता दूर हो गयी।

अभी यह नर्तन बहुत ही मृदुल है, अभी यह कोमल कुमार का नर्तन है,

अभी इसमें यौवन का उद्दाम ताण्डव नहीं आया ? अभी इस प्रथम जागरण के नर्तन में केवल सौन्दर्य है, कर्म नहीं, सुख है किन्तु तृष्णा नहीं, प्रेम है किन्तु लालसा नहीं, कल्पना है किन्तु कला नहीं, जीवन है किन्तु संगठन नहीं । जब वह समय आता है, तब कवि की लालसा संसार के एक छोर से ले कर दूसरे छोर तक फैल जाती है, जब हृदय अपने ही आधार में रह कर सन्नष्ट नहीं रहता—वह न जाने कहाँ—उस किस विशालता को समेट लेना चाहता है, जब प्रतिभा सुन्दरी यौवन के सुचारु दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देख कर कुछ गर्व करना, कुछ मान करना, कुछ अधिक प्रेम करना, कुछ वियोग करना, कुछ रूप का अभिमान करना सीखने के लिये लालायित होती है, तब महाकवि के हृदयोद्‌गार इन स्वरूपों में बदल जाते हैं—

"जागिया उठेछे प्राण,
(ओरे) उथली उठेछे वारी,
ओरे प्राणेर वासना प्राणेर आवेग
रुधिया राखिते नारी।
थर थर करि काँपिछे भूधर
शिला राशि राशि पड़िछे खसे,
फुलिया फुलिया फेनिल सलिल
गरजि उठिछे दारुण रोषे
हेथाय होथाय पागलेर प्राय
घुरिया घुरिया मातिया बेड़ाय;
बाहिरिते चाय, देखिते ना पाय
कोथाय कारार द्वार।
प्रभाते रे जेनो लइते काड़िया,
आकाशेरे जेनी फेलिते छिड़िया
उठे शून्य पाने पड़े आछाड़िया
करे शेषे हाहाकार।
प्राणेर उल्लासे छुटिते चाय,
भूधरेर हिया टुटिते चाय,

आलिंगन तरे ऊद्ध्वे बाहु तुलि
आकाशेर पाने उठिते चाय।
प्रभात किरणे पागल होइया
जगत माझारे लुटिते जाय।
केन रे विधाता पाषाण हेनो,
चारिदिके तार बाँधन केनो ?
भांगरे हृदय भांगरे बाधन,
साधरे आजिके प्राणेर साधन,
लहरीर परे लहरी तुलिया
आघातेर परे आघात कर;
मातिया सखन उठेछे पराण,
किसेर आंधार किसेर पाषाण;
उथलि जखन उठेछे वासना
जगते तखन किसेर डर।"

(मेरे प्राण जग पड़े हैं, मेरे हृदय की सलिल-राशि उमड़ रही है, मैं अपने हृदय की वासनाओं को—अपने प्राणों के आवेग को रोक नहीं सकता। भूधर थर थर कांप रहा है, शिलाओं की राशि उससे छूट कर गिर रही है। फेनिल सलिल फूल-फूल कर बड़े ही रोष से गरज रहा है। पागल की तरह वह जहाँ-तहाँ मतवाला हो कर घूम रहा है। वह निकलना चाहता है। परन्तु कारागार का द्वार उसे देख नहीं पड़ता; मानो वह प्रभात को छीन लेने के लिये, आकाश को फाड़ डालने के लिये, शून्य की ओर बढ़ता है, परन्तु अन्त को रास्ते में ही गिर कर हाहाकार करता है। प्राणों के उल्लास से वह दौड़ कर बढ़ना चाहता है, जिसे देख कर पहाड़ का हृदय भी टुकड़ा-टुकड़ा हुआ चाहता है, वह आलिगन के लिये ऊर्द्ध्व पथ की ओर अपनी बाहें बढ़ा कर आकाश की ओर चढ़ जाना चाहता है। वह प्रभात की किरणों में पागल हो कर संसार में लौटना चाहता है। विधाता ! इस तरह का पत्थर क्यों है ? उसके चारों ओर इस तरह के बन्धन क्यों है ? हृदय ! तोड़ इन बन्धनों को। अपने हृदय की साधना पूरी कर ले, लहरियों पर लहरियाँ उठा कर आघात पर आघात कर, जब प्राण मस्त हो रहे हैं तब अन्धेरा कैसा पत्थर ? जब वासना उमड़ चली है तब संसार में फिर किस बात का भय ?)

यह प्रतिभा-विकास की यौवन छटा है। आगे चल कर अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिये महाकवि लिखते हैं :—

"आमि—ढालिब करुणा-धारा
आमि—भांगिब पाषाण-कारा,
भामि—जगत् प्लाविया बेड़ाब गाहिया
आकुल पागल पारा।

केश एलाइया, फूल कुड़ाइया,
रामधनु आंका पाखा उड़ाइया,
रविर किरणे हासी छड़ाइया
दिबरे पराण ढाली।
शिखर होइते शिखरे घुरिब,
भूधर होइते भूधरे लुटिब,
हेसे खल खल, गेये कल कल
ताले ताले दिब ताली।
तटिनी होइया जाइब बहिया—
जाइब बहिया—जाइब बहिया—
हृदयेर कथा कहिया कहिया
गाहिया गाहिया गान,
जतो देव प्राण बहे जाबे प्राण,
फुराबे ना आर प्राण।
एतो कथा आछे, एतो गान आछे
एतो प्राण आछे मोर
एतो सुख आछे एतो साध आछे,
प्राण होये आछे भोर।"

(मैं करुणा की धारा बहाऊँगा, मै पाषाण का कारागार तोड़ डालूंगा, मैं संसार को प्लावित करके व्याकुल पागल की तरह गाता हुआ घूमता फिरूँगा। मैं अपने बाल खोल कर फूल चुन कर, अपने इन्द्रधनुष के पंख फैला कर सूर्य की किरणों में अपनी हँसी मिला कर सब में जान डालूंगा। मैं एक शिखर से दूसरे शिखर पर दौड़ूंगा, एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर लोटूंगा, खिलखिला कर हँसूंगा, कल-कल स्वरों में गाऊँगा और ताल-ताल पर तालियाँ बजाऊँगा। मैं नदी बन

कर हृदय की बात कहता हुआ—गाने गाता हुआ बह जाऊँगा, जितना ही मैं जान डालता रहूँगा, उतना ही मेरे प्राण बहेंगे, फिर मेरे प्राणोंका शेष न होगा। मेरी इतनी बातें हैं, इतने मेरे ज्ञान हैं, इतना जीवन और इतनी आकांक्षाएँ है कि मेरे प्राण उनसे मस्त हो रहे हैं।)

जिस समय हृदय के अन्तस्तल को आलोक-पुलकित प्रतिभा का अमर वर मिल रहा था—जिस समय पार्थिव और स्वर्गीय रश्मियाँ एक साथ मिल रही थीं—जिस समय सलिल-राशि अपने प्रवाह के लिये स्वयं ही अपना रास्ता बना रही थी—जिस समय कली के भीतर की अवरुद्ध गन्ध अपने विकास के लिये—प्रकृति के सौदर्य के साथ अपना सौंदर्य मिलाने के लिये—अपनी सुन्दरता का बिम्ब दूसरों की प्रसन्नता में देखने के लिये, मचल-मचल कर कली के कोमल दलों में धक्का मार रही थी, महाकवि रवीन्द्रनाथ की ये उसी समय की युक्तियाँ हैं। कली की सुगंध की तरह महाकवि की प्रतिभा भी अपनी छोटी-सी सीमा के भीतर सन्तुष्ट नहीं रहना चाहती। वह हर एक मानवीय दुर्बलता को परास्त करना चाहती है। यह उसका स्वाभाविक धर्म भी है। क्योंकि दैवी-शक्ति वही है जो मानवीय बन्धनो का उच्छेद कर देती है। जो बन्धन मनुष्य को कर्मशः दुर्बल करते हैं, उन्हें खोल कर मनुष्य को मुक्त कर देने की शक्ति दैवी-शक्ति में ही है। कभी-कभी आसुरी उच्छृङ्खलता भी मानवीय पाशो का कृतान करती है, और अधिकांश समय मे, देवी-शक्ति के बदले आसुरी-शक्ति को ही मानवीय शृंखलाओ के नाश के लिये जन-समाज में उच्छृङ्खलता का बीजारोपण करते हुए हम लोग देखते हैं। प्रायः हम लोग उसकी क्षणिक उत्तेजना के वश में आकर उसके विषमय भविष्य-थल की ओर ध्यान देना उस समय भूल जाते है। इससे जन-समुदाय एक कदम पीछे ही हट जाता है, यद्यपि पहले उसे आसुरी उत्तेजना के द्वारा बढ़ने का एक लालच-ऐसा होता है। परन्तु रवीन्द्रनाथ की यह उत्तजना आसुरो उत्तजना नहीं, उनकी यह ललकार जन-समुदाय में किसी प्रकार की आसुरी भावना नहीं लाती। उनके शब्द सोते हुओ को जगाते है, उन्हें अपना कर—अपने स्वरूप में उन्हें भी मिला कर—अपने भाव उनमें भी भर कर, अपनी ही तरह उन्हें भी उठा कर खड़ा कर देता है और उन्हें सुनाता है एक वह मंत्र जो जागरण के प्रथम प्रभात में हर एक पक्षी संसार को सुनाया करता है, जिसमें उसका अपना स्वार्थ कुछ भी नहीं है—है केवल अपने आनन्द के स्वर से दूसरों को सुख देने की एक लालसा—स्वार्थ पर होने पर भी,

निःस्वार्थ। रवीन्द्रनाथ अपने भाव की निःस्वार्थ प्रेरणा से संसार को पुकार कर जागरण का संगीत सुन रहे हैं। यदि कुछ और तह तक पहुँचकर कवि की इस पुकार की छान-बीन की जाय तो हम देखेंगे, यह कवि की नहीं, किन्तु उसी प्रतिभा की पुकार है, उसी दैवी-शक्ति की अभ्युत्थान-ध्वनि है, जिसके अभिर्भाव से कवि का हृदय उद्भासित हो उठा था। इस ध्वनि से जन-समुदाय का कोई अनर्थ नहीं हो सकता। इसमें भी उतेजना है, किन्तु क्षणिक नहीं। यह निर्जीवों को जिला देने के लिये, पद-दलितों में उत्साह की आग भड़काने के लिये, नग्न हृदयों को आशा की सुनहरी छटा दिखाने के लिये, सदा ही ज्यों की त्यों बनी रहेगी। यह अपने आनन्द की ध्वनि है, किन्तु इसमें दूसरे भी अपना प्रतिबिम्ब देख लेते हैं। यह व्यक्ति और देश के लिये तो समीम है किन्तु विश्व के लिये निस्सीम। एक देशिक भावों का मनुष्य इसमें एकदेशिक भाव की सुरीली किन्तु ओजस्विनी रागिनी पाता है और वह उसी के भावों में मस्त हो जाता है, और व्यापक विश्व-भावों का मनुष्य इसमें व्यक्ति की वह असीमता देखता है जिसकी समाप्ति, जीवन की तो बात ही क्या, युग और युगान्तर भी नही कर सकते। ससीम और असीम, एकदेशिक और व्यापक, ये दोनों ही भाव महाकवि की इस उक्ति में पाये जाते है। इससे देश का भी कल्याण होता है और विश्व का भी। यही इसकी विचित्रता है और यही इसका सौन्दर्य—अनूठापन। इन पंक्तियों के पाठ से पहले इसके क्रान्तिमूलक अतएव आसुरी होने का भ्रम हो जाता है; क्योंकि, 'लहरीर पर लहरी तुलिया, आघातेर पर आघात कर' आदि पंक्तियों में शक्ति की मात्रा इतनी है कि स्वभावतः इनके क्रान्तिभाव-मयी होने का विश्वास हो जाता है। परन्तु नहीं, कविता के पाठ से जिस स्नायविक उत्तेजना के कारण ऐसा होता है, वह उत्तेजना पढ़ने वाले ही की दुर्बलता है, वह कविता का क्रांतिकारी आसुरी भाव नहीं। हमारा मतलब क्रान्ति से यहाँ आसुरी भाव को ले कर है। यदि इस क्रान्ति को कोई दैवी-क्रांति कहे और इसका उपयोग मानवीय दुर्बलता के विरोध में करने के लिये तैयार हो, तो हम इसके मान लेने में द्विसक्ति भी नहीं करेंगे। हम स्वयं यह मानते हैं कि किस कविता का प्रणयन दैवी-शक्ति के द्वारा हुआ है, उसक उपयोग मान-वीय दुर्बलताओं के विरोध में स्वच्छन्दतापूर्वक किया जा सकता है, और उससे दैवी भावनाओं को ही प्रोत्साहन मिलता है, न कि किसी आसुरी भावना को।

कवि को जब अपनी महत्ता का अनुभव होता है तब वह इस प्रकार अपनी व्याप्ति का वर्णन करता है—

"रवि-राशि भाँति गाथिबो हार,
आकाश आँकिया परिबो बास।
साँझेर आकाले करे गालागालि,
अलस कनक जलद राश।
अभिभूत होये कनक-किरणे;
राखिते पारे ना देहेर भार।
येनोरे विवशा होयेछे गोधुलि,
पूरवे आंधार बेणी पड़े खुली।
पश्चिमेते पड़े खसिया खसिया,
सोनार आंचल तार।
मने हबे येन सोना मेघ-गुलि
खसिया पड़ेछे आमारि जले
सुदूरे आमारि चरण-तले।
आकुली-विकुली शत बाहुतुलि
यतो इ हारे धरिते जाबो
किछुतेई तारे काछे न पाबो।
आकाशेर तारा आबाक हबे
साराटी रजनी चाहिया रबे
जलेर तारार पाने।
ना पाबे भाविया एलो कोथा होते,
निजेर छायारे जाबे चूम खेते
हेरिबे स्नेहेर प्राणे।
श्यामल आमार दुइटी फूल,
माझे माझे ताहे फुटिबे फूल।
खेला छले काछे आसिया लहरी
चकिते चुकिया पलाये जावे,
शरत-विमला कुसुम रमणी
फिराबे आनन शिहरि अमनी

आवेशेते शेषे अवश होइया
सखिया पड़िया जाब।
भेसे गिये शेषे कांदिबे हाय
किनारा कोथाय पाब!

(मैं सूर्य और चन्द्र को गूंथ कर हार पहनूंगा, आकाश को अंकित करके उसका वस्त्र पहनूंगा। देखो जरा उधर भी, सुनहरे बादलों के अलग दल सूर्य की कनक-किरणों को चूम कर इस तरह शिथिल हो गये हैं कि वे अपने ही शरीर का भार नहीं सँभाल सकते हैं। और उधर, मानो गोधूलि भी विवश हो रही है, क्योंकि देखो न, पूरब की ओर उसकी खुली हुई वेणी का अंधेरा छा गया है और पश्चिम ओर उसका सुनहरा आँचल खुल-खुल कर गिरा जा रहा है। कभी मुझे ऐसा मालूम होता कि सुनहरे मेघ मेरी ही सलिल-राशि पर टूट-टूट कर गिर रहे हैं—दूर मेरे ही पैरों के नीचे। मैं व्याकुल हो कर अपने शत-शत बाहुओं को फैला कर जितना ही उन्हें पकड़ने के लिये जाऊँगा, वे मेरी पकड़ में न जावेंगे। यह देख कर आकाश के तारों को आश्चर्य होगा। वे रात भर पानी के तारों की ओर हेरते रहेंगे। वे यह न समझ सकेंगे कि ये पानी के तारे कहाँ से आये, वे अपनी छाया को चूमने चलेंगे, पर मैं स्नेह की दृष्टि से देखता रहूँगा। मेरे दोनों तट कैसे श्याम हो रहे हैं!—इनमे कहीं कहीं फूल खिल जायेंगे। लहरियाँ इन फूलों के पास खेलने के लिए आवेंगी और एक-एक इन्हें चूम कर भाग जायँगी। तब मारे शर्म के कुसुम-कुमारी सिहर उठेगी,—उसी समय अपना मुँह फेर लेगी—अन्त में लज्जा के आवेश में अवश हो कर झड़ जायगी। हाय! बहती हुई वह जल में रोती फिरेगी, फ़िर उसे किनारा कहाँ मिलेगा ?)

यह कवि की कविता-माधुरी है। इस कल्पना में वह ओज नहीं जो उनकी पहले की पंक्तियों में हैं। अन्धकार दूर हुआ, हृदय के अन्तर्पट पर प्रतिभा की किरण गिरी, फिर क्रमशः उसकी प्रखरता इस तरह बढ़ती गई कि विश्व भर का उसने ग्रास कर लिया—उसके उद्दाम—वेग—प्रखर गति में विश्व का हृदय-स्पन्द द्रततर होता गया, फिर उसमें लालसा की सृष्टि हुई, लालसा की ही उत्पत्ति कवि के हृदय मे नई-नई सृष्टियों के बीज बोती है। क्योंकि, किसी भी सृष्टि के पहले हम लालसा या इच्छा को ही पाते हैं। यदि लालसा न हो, यदि इच्छा न हो तो सृष्टि भी नहीं हो सकती। यह बात शास्त्रीय है। इधर

कविता में भी हमें यही क्रम मिलता हैं। प्रतिभा उर्वरा भूमि है और लालसा है बीज। इस बीज के पड़ने पर जो अंकुर उगता है, पूर्वोद्धृत पद्य में उसका रूप हम देख लेते हैं, वह अंकुर की ही तरह कोमल है और सुन्दर तथा मृदुल। और लालसा की प्रथम सृष्टि मे जो रूप हमें देखने को मिलता है, वह आदि रस का ही रूप है और सृष्टि की सार्थकता को 'आदि' के द्वारा बड़ी ही खूबी से सिद्ध करता है। कवि की लहरियाँ अपने तट पर के खिले हुए फूलों को चूम-कर भाग जाती है और उनका यह अभिसार—यह प्यार, नारी-स्वभाव की परिधि मे रहने के कारण कुसुम-कामिनी से नहीं देखा जाता—वे लज्जा से सिहर उठती और फिर चिरकाल के लिये, अपने प्यारे वृत्त का आश्रय छोड़ जाती है—अन्त में सलिलराशि पर निरुपाय बह जाती है—उसे कहीं किनारा नहीं मिलता। इस सृष्टि में महाकवि रवीन्द्रनाथ ने आदि या शृंगार की सृष्टि किस खूबी से करके, कुसुम-कामिनी के निरुपाय बह जाने में इसका वियोगान्त अन्त करते हैं। यह बातें कविता-शिल्पियों के लिए ध्यान देने योग्य हैं। महा-कवि की इस क्षुद्र सृष्टि में अनन्त शृंगार है और उसका अवसान भी होता है अनन्त वियोग में। कुसुम कामिनो के उद्धार के लिए फिर तट नहीं मिलता, उसे किनारा नही मिलता। उसका सच्चा प्रेम नायिका-लहरियों के एक क्षणिक चुम्बन से मुरझा जाता है और साथ ही वह भी मुरझा कर झड़ जाती है और वहाँ बह जाती है जहाँ से फिर तट पर लगने की कोई आशा नहीं। कितनी सुन्दर सृष्टि है, छोटी और सुसम्बन्ध—महान्!

रवीन्द्रनाथ अपने सौन्दर्य का अनुभव दूसरों की भी कराते हैं। वे उन्हें पुकार-पुकार कर कहते हैं—

आजि के प्रभाते भ्रमरेर मत
बाहिर होइया आय,
एमन प्रभाते एमन कुसुम
केनोरे सुकाये जाय।
बाहिरे आसिया ऊपरे बसिया
केवलि गाहिबि गान,
तबे से कुसुम कहिबे रे कथा
तबे से खुलिबे प्राण।

अति धीरे धीरे फुटिबे दल,
बिकसित होये उठिबे हास,
अति धीरे धीरे उठिबे आकाशे
लघु पाखा मेली खेजिबे वातासे
हृदय खुलानो, आपना भुलानो,
परागमातानो वास।
पागल होइया माताल होइया
केवलि धरिबि रहिया रहिया
गुन् गुन् गुन् तान।
प्रभाते गाहिबि, प्रदोषे गाहिबि,
निशिथे गाहिबि रान,
देखिया फुलेंर नगन माधुरी,
काछे काछे शुधु वेड़ाबि घुरि,
दिवा निशि शुधु गाहिबि गान।
थर थर करि काँपिबें पाखा
कोमल कुसमे रेंणुते माखा,
आबेंगेर भरे दुलिया-दुलिया
थर-थर करि काँपिबें प्राण।
केवलि उड़िबि केवल बसिबि
कभुवा मरम माझारें पाशिबि,
आकुल नयने केवलि चाहिबि,
केवलि गाहिबि गान।
अमृत-स्वप्न देखिबि केवल
करिबिरे मधुपान!
आकाशे हासिबे तरुण तपन,
कानने छुटिबे बाय,
चारि दिके तोर प्राणेर लहरी
उथलि-उथलि जाय।
वायुर हिल्लोले झरिबे पल्लव

मर मर मृदु तान,
चारि दिक होते किसेर उल्लासे
पाखीते गाहिबे गान !
नदीते उठिबे शत शत ढेऊ;
गाबे तारा कल-कल,
आकाशे आकाशे उथलिबे शुधु
हरषेर कोलाहल ।
कोथाओ बा हासी; कोथाओ बा खेला,
कोथाओ बा सुख गान;
माझे बोसे तुइ बिभोर होइया;
आकुल पराणे नयन मुदिया
अचेतन सुखे चेतना हाराये
करिबिरे मधुपान ।"

(आज इस प्रभात में भ्रमर की तरह तू भी निकल कर यहाँ आ जा। इस तरह के प्रभात में, इस तरह के कुसुम भला क्यों सूख जाते हैं ? तू बाहर निकल आ, यहाँ ऊपर बैठ कर बस गाते रहना, उस कुसुम से तेरी बातचीत तभी होगी—तभी वह तेरे सामने अपने प्राणों के दल खोलेगा। बहुत धीरे-धीरे उसके दल खुलेंगे, तब उसकी हँसी भी विकसित हो जायगी, तब हृदय को खोल देने वाली—अपने को भुला देने वाली—प्राणों को मस्त कर देने वाली सुगन्ध बहुत ही धीरे-धीरे आकाश की ओर चढ़ेगी—अपने छोटे-छोटे पंख फैला कर हवा के साथ खेलती फिरेगी। पागल हो कर, रह-रह तू केवल गुन्-गुन् स्वरों में तान अलापेगा। तू प्रभात के समय गायेगा, प्रदोष के समय गायेगा, निशीथ के समय गायेगा। फूलों की नग्न माधुरी देख कर तू उनके आस ही पास चक्कर मारता रहेगा और दिन-रात केवल तान छेड़ता रहेगा। कोमल फूलों की रेणु लिपटाये हुए तेरे पंख थर-थर काँपते रहेंगे। इसके साथ आवेग की निर्भयता पर झूम-झूम कर तेरे प्राण भी थर-थर काँपते रहेंगे। उड़ता रहेगा, फूलों पर बैठगा फिरेगा, कभी मर्म में पैठ कर व्याकुल दृष्टि से हेरता रहेगा और अपनी तान छेड़ेगा। अमृत के स्वप्नों पर तेरी दृष्टि अटकी रहेगी। तू केवल सदा मधुपान ही करता रहेगा। जब तक आकाश में तरुण सूर्य का उदय होगा—वनों में वायु प्रवाहित हो चलेगी तब मुझे ऐसा मालूम

होगा कि तेरे चारों ओर जीवन की लहरें उथल-पुथल मचाती हुई बही चली जा रही हैं। जब हवा की हिलोरों में पल्लव मर्मर-स्वर से मृदु तान अलापने लगेंगे और न जाने किस उच्छ्वास के आवेश में पक्षी गाने लगेंगे – नदियों में कितनी ही लहरें उठेंगी और कल-कल स्वर से अपनी रागिनी गायेंगी—एक आकाश से दूसरे आकाश में केवल हर्ष का कोलाहल उमड़ता रहेगा—कहीं हास्य की रेखाएँ खिचेंगी—कहीं क्रीड़ा-कौतुक होगा—कहीं सुख के संगीत उठेंगे—तू उनके बीच में विह्वल हो कर बैठा हुआ अपने आकुल प्राणों से, आँखें मूँद कर, उस अचेतन सुख में अपनी चेतना खो कर सब का मधु पीता रहेगा।)

अपने हृदय के साथ दृश्य मिलाने के लिये महाकवि सम्पूर्ण विश्व को इन पंक्तियों द्वारा निमन्त्रण भेज रहे हैं। वे मधुकर के साथ उसकी उपमा दे कर मधुकर की तरह उसे भी सम्पूर्ण पुष्प प्रकृति का आनन्द लूटने के लिये बुला रहे हैं। यह हृदय कितना विस्तीर्ण हो गया है, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। हृदय का विस्तार सम्पूर्ण विश्व-प्रकृति तक फैल जाता है। यह इतना बड़ा विस्तार है कि इसका वर्णन महाकवि के ही मुख से सुनिये—

"बारेक चेये देखो आमार मुख पाने,
उठेछे माथा मोर मेघेर माझ खाने।
आपनि आसि ऊषा शियरे बसि धीरे,
अरुण कर दिये मुकुट देन शिरे।
निजेर गला होते किरण-माला खुलि,
दितेछे रवि-देव आमार गले तुलि।
धूलिर धलि आमि रयेछि धूलि परे
जेनेछि भाई बोले जगत चराचरे।"

(जरा मेरे मुँह की ओर भी देखो। देखो—मेरा मस्तक मेघों के बीच मे जा कर लगा है। वहाँ ऊषा आप आ कर धीरे-धीरे मेरे सिरहाने पर बैठ कर अरुण करों का मुकुट मेरे सिर पर रख रही है। अपने गले से किरणों की माला खोल कर भगवान भास्कर उसे मेरे गले में डाल रहे है। यों तो मैं धूल की धूल हूँ—धूल ही पर रहता भी हूँ, परन्तु विश्व और चराचर के दर्शन मुझे अपने भाई के रूप में हुए हैं।)

इन पंक्तियों में कवि के स्वरूप का पूर्ण परिचय मिल जाता है। उसका

विशाल हृदय अपनी पहली क्षुद्र सीमा को तोड़ कर किस तरह विश्व-ब्रह्माण्ड की व्याप्ति से मिल कर एक हो जाता है, इसका इन इतनी ही पंक्तियों में यथेष्ट उदाहरण है। उसका उन्नत ललाट मेघों को स्पर्श कर लेता—उनके भी ऊँचा यदि कोई स्थान है तो वहाँ भी उसकी गति कोई बाधा नहीं पहुँचाती। इधर धूल की धूलि हो कर वह छोटे से भी छोटा बन जाता है। महान् भी है और क्षुद्र भी है। यदि विशालता की पराकाष्ठा तक पहुँचाने के लिये कवि ने क्षुद्रता को छोड़ दिया होता तो उसके यथार्थ हृदयोद्‌गार को समालोचक व्यर्थ आत्म-प्रशंसा और अहंकार कह कर कलंकित भी कर सकते थे, क्योंकि क्षुद्र विशालता एक अंग ही तो है। रेणु से अलग कर देने पर विश्व-ब्रह्माण्ड का अस्तित्व स्वीकार करना हास्यास्पद नहीं तो और क्या होगा? अस्तु कवि की व्याप्ति विराट में भी है और स्वराट में भी। यह प्रतिभादेवी के कृपा-कटाक्ष का ही फल है कि पहले जिस हृदय में अन्धकार का साम्राज्य था आज वह विश्व के महान आकाश और क्षुद्र कण तक में व्याप्त हो कर उन्हें प्रभा-पुलकित देख रहा है। आज उच्च और नीच, विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों में उसका अपना ही दर्पण लगा हुआ है जिनमें वह अपने ही स्वरूप के दर्शन कर रहा है। न वह महान को देख कर डरता है और न क्षुद्र को देख कर उससे घृणा करता है। वह महान् में भी है और क्षुद्र में भी।

स्वदेश-प्रेम

कवियों का हृदय स्वभावत: बड़ा कोमल होता है। वे दूसरों के साथ सहानुभूति करते-करते इतने कोमल हो जाते हैं कि किसी भी चित्र की छाया उनके हृदय में ज्यों की त्यों पड़ जाती है, उन्हें इसके लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यह उनका स्वाभाविक धर्म ही बन जाता है। सांसारिक व्यवहार में जितने प्रकार के विकारों की सृष्टि हो सकती है उनकी संख्या ९ से अभी तक अधिक नहीं हो पाई। इन्हीं ९ प्रकार के विकारों का विश्लेषण करके साहित्य में ९ रसों की सृष्टि की गई है। इन नव रसों के नायक कवि वही होते हैं जो इस रसायनशास्त्र के पारदर्शी कहलाते हैं। नव रसों के समझने और उन्हें उनके यथार्थ रूप में दर्शाने की शक्ति जिसमें जितनी ज्यादा है, वह उतना ही बड़ा कवि है। जिस समय से देश पराधीनता के पिंजड़े में वन-विहंगम की तरह बन्द कर दिया गया है, उस समय से ले कर आज तक की उसकी अवस्था का दर्शन, उससे सहानुभूति, उसकी अवस्था का प्रकटीकरण आदि उसके सम्बन्ध के जितने काम हैं, इनकी सीमा कवि-कर्म की परिधि के भीतर ही समझी जाती है। क्योंकि, प्रकृति का यथार्थ अध्ययन करने वाला कवि ही यदि देश की दशा का अध्ययन न करेगा तो फिर करेगा कौन?—लल्लू बजाज और मैकू महतो?

महाकवि रवीन्द्रनाथ ने केवल दूसरे विषयों की उत्तमोत्तम कविताओं की रचना में ही अपना सम्पूर्ण काल नहीं बिताया, उन्होंने देश के सम्बन्ध में भी

बड़ी मर्म-स्पर्शनी कविताएँ लिखी हैं। उनकी इस विषय की कविताओं में एक खास चमत्कार यह है कि वर्त्तमान समय के कवि यशःप्रार्थी हो कर ही कविता लिखने का दुस्साहस करने वालों की तरह, उनकी कविता में कहीं हाय-हाय का नाम-निशान भी नहीं रहता; किन्तु वह उनकी दूसरी कविताओं की तरह सरस, मर्मस्पर्शनी और भावमयी होती है; दूसरे भारतीयता क्या है और किस राह पर चलने से देश का भविष्य उज्ज्वल होगा—कैसे उसे अपनी पूर्व अवस्था की प्राप्ति हो सकेगी, यह महाकवि ने अपनी देश-विषय की कविताओं में बड़ी निपुणता के साथ अंकित कर दिखाया है। आदर्श उनका वही है जो आर्य-महर्षियों का था और पथ-प्रदर्शन भी वही जो वेद और शास्त्रों का है। कवित्व का कवित्व, उपदेश का उपदेश और भारतीयता की भारतीयता।

"नयन मुदिया सुनि गो, जानिना,
कोन अनागत वरषे
तव मंगल-शंख तुलिया
बाजाय भारत हरषे!
डुबाये धरार रण-हुँकार
भेदि बणिकेर धन-झंकार
महाकाश-तले उठे ओंकार
कोनो बाधा नाहीं मानी!
भारतेर श्वेत-हृदि-शतदले
दाँड़ाये भारती तव पदतले
संगीत ताने शून्ये उथले
अपूर्व महावाणी
नयन मूंदिया भावीकाल पाने
चाहिनु, सुनिनु निमिषे
तव मङ्गल-विजय-शङ्ख
बाजिछे आमार स्वदेशे!"

(आँखें बन्द करके मैंने सुना, हे विश्वदेव, न जाने जिस अनागत वर्ष में, तुम्हारा मंगल-शंख ले कर भारत आनन्द पूर्वक बजा रहा है। संसार के संग्राम-हुंकार को प्लावित करके, बणिकों के धन-झंकार को भेद कर भारत के ओंकार की ध्वनि महाकाश की ओर बढ़ रही है, वह कोई बाधा नहीं मानती। भारत

के हृदय-श्वेत-शतदल पर, तुम्हारे पैरों के नीचे भारती खड़ी है; उसके संगीत के शून्य-पथ में एक अपूर्व महावाणी उमड़ रही है। मैंने आँखें मूँद कर भविष्य समय की ओर देखा, सुना—मंगल घोष से भरा हुआ हमारे देश में तुम्हारा विजय-शंख बज रहा है !)

देश पर महाकवि ने जो कुछ कहा है, उसमें भारतीयता की ही गन्ध मिल रही है। देश को विपथगामी होने से बचा रहे हैं, वे उसके मंगल के लिये किसी ऐसे उपाय की उद्भावना नहीं करते जो भारत के लिये एक नवीन और उसकी प्रकृति के बिल्कुल खिलाफ हो। वे उसे उसी मार्ग पर उठाये रखना चाहते हैं, जिस पर रह कर उसने महामनीषी ऋषियों को उत्पन्न किया था। वे यदि चाहते तो अपनी ओजस्विनी कविता द्वारा देश को अपने इच्छानुकूल मार्ग पर, अथवा विदेश के किसी क्रांतिकारी भाव पर चला सकते थे। परन्तु उन्होंने देश की नाड़ी पकड़ कर उसे वह दवा नहीं दी जो किसी विदेशी ने अपने देश की रोग-मुक्ति के लिये उसे दी है। रवीन्द्रनाथ भारत के ओंकार की वर्णना में उसे किस उपाय से सर्वविजयी सिद्ध करते हैं, इस पर ध्यान दीजिये। उनके ओंकार-नाद से संसार का संग्राम-हुंकार प्लावित हो जाता है। इस प्लावन में अशान्ति नहीं, शांति है। यह बिना अस्त्रों की लड़ाई और सत्य की विजय है। इस ओंकार-नाद से धनिकों का धन-दर्प भी चूर्ण हो जाता है। इसी का मंगल-घोष महाकवि भविष्य के पथ पर अग्रसर हो कर सुनते हैं। इससे सूचित है, भविष्य में रवीन्द्रनाथ इसी ओंकार के विजय शब्द को भारतीय आकाश में गूँजते हुए सुन रहे हैं, अतएव वे भारत को उसी रूप में देखना चाहते हैं जिस रूप में उसे सुसज्जित करने के लिये महर्षियों ने युगों तक तपस्या की थी।

भारत के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ का यह गीत बहुत ही प्रसिद्ध है—

"आमि भूवन-मनोमोहिनी
आमि निर्मल सूर्यकरोज्वल धरणी
जनक-जननी-जननी !
नील-सिन्धुजल-धौत चरण तल,
अनिल-विकम्पित श्यामल अंचल,
अम्बर-चुम्बित भाल हिमाचल
शुभ्र-तुषार-किरिटिनी।

प्रथम-प्रभात उदय तव गगनें,
प्रथम साम-रव तव तपोवने
प्रथम प्रचारित तब वन-भवने
ज्ञान-धर्म कत काव्य-काहिनी
चिर-कल्याणमयी तुमि धन्य,
देश-विदेशे वितरिछ अन्न;
जाह्नवी यमुना विगलित-करुणा,
पुण्य पीयूष-स्तन्य वाहिनी !"

इसका अर्थ खुलासा है। पाठक को इसके समझने में कोई दिक्कत न होगी।

रवीन्द्रनाथ देश की कल्याण-कामना करते हुए परमात्मा से जिस शब्दों में प्रार्थना करते हैं उससे उनके हृदय की छिपी हुई मर्म-पीड़ा के साथ उनके प्रांजल विश्वास का एक बहुत ही भावमय चित्र पाठकों के सामने अंकित हो जाता है। देश की दीनता का अनुभव कितने गहरे पैठ कर रवीन्द्रनाथ करते हैं और उसके स्वरूप की पहचान करा देने के लिये अपने अक्षय शब्द-भंडार से कैसे अर्थव्य और अजेय शब्दास्त्रों का प्रयोग करते, यह भी पाठकों के लिये एक ध्यान देने की बात है। रवीन्द्रनाथ उपदेशक के आसन पर बैठ कर, यह करो—यह न करो, कह कर उस पर उपदेशों की बौछार नहीं करते। वे कवि के ही शब्दों मे जो कुछ कहते हैं, कहते हैं—

"अन्धकार गर्ते थाके अन्ध सरीसृप,
आपनार ललाटेर रतन-प्रदीप
नाहीं जाने; नाहीं जाने सूर्यलोक-लेश !
तेमनि आँधारे आछे एई अन्ध-देश
हे दण्ड विधाता राजा, ये दीप्त रतन
पराये दियेछो भाले ताहार यतन
नाहीं जाने, नाहीं तोमार आलोक !
नित्य बहे आपनार अस्तित्वेर शोक
जनमेर ग्लानि ! तव आदर्श महान
आपनार परिमापे करि खान खान

रेखेछे धूलिते ! प्रभु, हेरिते तोमाय
तुलिते ना हय माथा ऊर्द्ध्व पाने हाय !
जे एक तरणी लक्ष लोकेर निर्भर,
खण्ड खण्ड करि ताहे तरिबे सागर ?"

(अन्धा साँप अँधेरे गढ़े में रहता है। उसे अपने ही मस्तक के रत्न-प्रदीप का हाल नहीं मालूम। सूर्य के प्रकाश का भी उसे कोई ज्ञान नही। इसी तरह, हमारा यह देश भी अँधेरे में पड़ा हुआ है। हे दण्डविधाता ! हे महाराज ! जो दीप्त-रत्न उसके मस्तक पर तुमने लगा दिया है, उसका आदर-यत्न करना वह नहीं जानता, न उसे तुम्हारे प्रकाश का ही कोई ज्ञान है ! वह सदा अपने अस्तित्व का शोक-भार ढोया करता है,—अपने जन्म के लिये रोया करता है ! तुम्हारे महान आदर्श को अपनी बुद्धि के दायरे के अन्दर रख, उसने उसके टुकड़े बना डाले है और उन्हें धूल मे डाल रखा है। हे प्रभु ! यह सब उसने इसलिये किया है कि तुम्हें देखने के लिये उसे कहीं ऊपर की ओर नजर न उठानी पड़े। कितनो बड़ी भूल है। जिस नाव पर चढ़ कर लाखों मनुष्य पार हो सकते हैं, वह उसके टुकड़े बना कर समुद्र को पार करना चाहता है।)

इस अन्योक्ति से रवीन्द्रनाथ देश को बहुत बड़ा उपदेश दे रहे हैं। परन्तु यह उपदेश वे उपदेशक बन कर नही दे रहे, वे कवि के भावों में ही उसकी आँखें खोल रहे हैं। साँप अँधेरे गढ़े में पड़ा है। यहाँ साँप देश है और अंधेरा गढ़ा अज्ञान। उसके मस्तक पर मणि है, अर्थात् हर एक मनुष्य के भीतर अनादि और अनन्त शक्ति का भण्डार है—उसके भीतर साक्षात् ब्रह्म विराजमान हैं। यह बात अर्थशास्त्र की ओर से भी पुष्ट होती है। देश में जितना अन्न होता है, उससे देश अपनी शक्ति को इतना बढ़ा सकता है कि फिर संसार के सब देश यदि एक आर हो कर उससे लड़ें तो भी उसे जीत नहीं सकते। एक बार इन पंक्तियों के लेखक से एक अर्थशास्त्र के पारङ्गत विद्वान् से बातचीत हुई थी। उन्होंने पहले दूसरे देशों का हाल कहा। फिर पश्चिमी देश भारत के साथ क्यों मैत्री नहीं करते, इसका अर्थशास्त्र-संगत एक कारण बतलाया और इसे अपनी सबल युक्तियो द्वारा पुष्ट भी किया। फिर उन्होंने कहा, लड़ाई में रसद से जितना काम होता है—लड़ाई के समय रसद को जितनी आवश्यकता है, उतनी न गोली की है—न बारूद की,—न मशीनगनों की है—न हवाई

जहाजों की। भूख के मारे जब पेट में चूहे कलाबाजियाँ खाने लगेंगे तब बन्दूक में संगीन चढ़ा कर दिन भर में पचास मील का डबल-मार्च कैसे किया जायगा ? सारी करामात रसद की है। भारत में जितना अन्न पैदा होता है उससे भारत अपनी रक्षा और दूसरों पर विजय प्राप्त करने के लिये चार करोड़ फौज सब समय तैयार रख सकता है। पाठक, ध्यान दीजिये, भारत सदा के लिये—सब समय मैदाने जंग पर डटे रहने के लिये चार करोड़ सेना की पीठ ठोंकता है। अब उसकी शक्ति का अन्दाजा आप सहज ही लगा सकते हैं। अस्तु! इसकी पुष्टि तब और हो जाती है जब वे कहते हैं, जिस नाव पर से लाखों मनुष्य पार होते हैं, उसका तख्ता-तख्ता अलग करके यह समुद्र को पार करना चाहता है। भारत में बहुमत, सम्प्रदाय विभाग, संघशक्ति के कट-छँट कर टुकड़ों में बट जाने पर रवीन्द्रनाथ व्यंग कर रहे हैं, और इसके भीतर जो शिक्षा है, वह स्पष्ट है कि अब 'अपनी डफली और अपना राग' छोड़ो—यह 'अब' ढाई चावलों की खिचड़ी अलग पकाने का समय नहीं है, इससे देश की नाव समुद्र से पार नहीं जा सकेगी, देश के पैरों की बेड़ियाँ नहीं कट सकेंगी।

आगे चल कर आप अपने अक्षय तूणीर से बड़े-बड़े विकराल अस्त्र निकालते हैं। इनका संधान देश के उन साधुओं पर किया जाता है जो मुफ्त ही का धन हजम कर जाया करते हैं और काम जिनसे कुछ भी नहीं होता। मन्दिर के विशाल मंच पर कुछ मंत्र कह कर देश के उद्धार का द्वार खोलने वाले इन बबुला भगत साधुओं को आपकी उक्ति से करारी चोट पहुँचती है। इससे उनके दुराचारों को भी कोई चोट पहुँचती है या नहीं, वह हम नहीं कह सकते हैं—

"तोमारे शतधा करि क्षुद्र करि दिया
माटीते लुटाय जारा तृप्त सुप्त हिया
समस्त धरणी आजि अवहेला भरे
पा रेखेछे ताहादेर माथार ऊपरे।
मनुष्यत्व तुच्छ करि जारा सारा वेला
तोमारे लइया सुधु करे पूजा खेला
मुग्ध भाव भोगे;—सेइ वृद्ध शिशुदल!
समस्त विश्वेइ आजि खेलार पुत्तल!

तोमारे आपन साथे करिया सम्मान
जे खर्ब वामनगण करे अपमान
के तादेर दिबे मान ? निज मन्त्र स्वरे
तोमारेइ प्राण दिते जारा स्पर्द्धा करे
के तादेर दिबे प्राण ? तोमारेओ जारा
भाग करे, के तादेर दिबे ऐक्य धारा ?

(हे ईश्वर ! तुम्हारे सैकड़ों टुकड़ों में बँटे हुए जो लोग तुम्हारे ही छोटे-छोटे स्वरूप हैं—जो लोग मिट्टी पर लोटते हैं और उसी में जिन्हें तृप्ति मिलती है और आनन्द मे वहीं हो जाते हैं, आज अवज्ञापूर्वक सम्पूर्ण संसार उनका सिर कुचल रहा है,—उन्हें ठोकरें लगा रहा है, जो लोग अपनी मनुष्यता को तिलांजलि दे कर, करते तो हैं तुम्हारी पूजा की बात, परन्तु वास्तव में तुमसे बच्चों का ऐसा खेल किया करते हैं,—भोग ही जिनका भाव हैं और उसी में जो लोग मुग्ध रहते हैं, वे वृद्ध होते हुए भी शिशु हैं—ये आज सम्पूर्ण विश्व के खिलौने हो रहे हैं। हे ईश्वर ! सर्वाकृति वामन होते हुए भी जो लोग तुम्हें अपने ही बराबर बतलाते हैं, ऐसा कौन है जो उन्हें सम्मान दे सके ! अपने ही मन्त्र के उच्चारण से जो लोग तुम्हारे लिये अपने प्राणों को निछावर कर देने की स्पर्द्धा करते हैं, ऐसा कौन हैं जो जीवन का संचार करे ? जो लोग तुम्हारे भी टुकड़े कर डालते हैं, कहो, उन्हें कौन एकता की रीति बतलाये ?)

पूर्वोद्धृत पंक्तियों में महाकवि ने भारत के धर्मध्वजियों और उनके विचार की खूब धूल उड़ाई है। आगे भारत की वर्त्तमान परिस्थिति में जो लोग कराह रहे हैं, उनके सम्बन्ध में लिखते हैं—

"आमरा कोथाय आछि कोथाय सुदूरे
दीपहीन जीर्ण भीत्ति अवसाद-पुरे
भग्न गृहे; सहस्रेर भृकुटिर पिछे
कुब्ज पृष्ठे नतशिरे; सहस्रर पिछे
चलियाछि सहस्रेर तर्जनी-संकेते
कटाक्षे कापियाँ; लइयाछि सिर पेते
सहस्र शासन-शास्त्र; संकुचित-काया
कांपितेछि रचि निज कल्पनार छाया

सन्ध्यार आंधारे बसि निरानन्द घरे
दीन आत्मा मरितेछे शत लक्ष उरे !
पदे पदे त्रस्त चिते हय लुण्ठ्यमान
धूलितले, तोमारे ज करि अप्रमाण !
जेनो मोरा पितृहारा धाई पथे-पथे
अनीश्वर अराजक भयार्त जगते !"

(हमलोग कहाँ ?—दूर—बहुत दूर—उस नगर का नाम है विषाद-उसी के एक जीर्ण मन्दिर में,—जिसकी दीवारें पुरानी हो गई हैं,—जहाँ एक दीप भी नहीं जल रहा ! वहीं हजारों मनुष्यों की कुटिल भौंहों के नीचे कुब्जे की तरह—सिर झुकाये हुए,—हजारों मनुष्यों के पीछे-पीछे प्रभुत्व की तर्जनी के इशारे पर उनके कटाक्ष से काँप-काँप कर हम चल रहे हैं,—हमारी देह संकुचित हो गई है,—हम अपनी ही गढ़ी हुई कल्पना की छाया देख कर काँप रहे हैं,—सन्ध्या के अंधेरे में, निरानन्द-गृह में बैठी हुई हमारी दीन आत्माएँ लाखों विपत्तियों की शंका कर-करके जी दे रही हैं। पग-पग पर हमारा जी काँप उठता है —हम धूल में लोटने लगते हैं—तुम्हें हम अप्रमाणित भी तो करते हैं ! बिना बाप का अनाथ बच्चा जिस तरह गली-गली मारा-मारा फिरता है, उसी तरह हम भी इस अनीश्वर अराजक और भयार्त संसार मे मारे-मारे फिरते हैं।

रवीन्द्रनाथ की इस उक्ति से हमें अपनी वर्त्तमान देश-दशा का बहुत अच्छा ज्ञान हो जाता है। महाकवि के चरित्र-चित्रण में जो खूबी है—उनकी वही खूबी भावों के व्यक्त करने में भी पाई जाती है। वे एक निर्लिप्त फोटोग्राफर की तरह फोटो नही उतारते; उस चित्र के सुख और दुःख से अपनी हृदय-वीणा को इस तरह मिला देते हैं कि वह चित्र को अपनी सम्पूर्ण समवेदना गा कर सुनाया करती है। यही उनके चित्रण की स्वर्गीय ज्योति है—यही उनकी महत्ता है। देश के वर्त्तमान नग्न-ताण्डव का रूप खींच कर वे उसके सामने एक आदर्श भी रखते हैं। इस आदर्श की रचना महाकवि स्वयं नहीं करते, वे उसे वेदान्त की अमृतवाणी सुनाते हैं—कहते हैं—

"एकदा ए भारतेर कोन वनतले
के तुमी महान प्राण, कि आनन्द बले

उच्चारि उठिले उच्चे—"सुनो विश्वजन
सुन अमृतेर पुत्र जतो देवगण
दिव्यधामवासी, आमि जेनेछि तांहरे,
महान पुरुष जिनी आंधारेर पारे
ज्योतिर्मय तांरे जेने, ताँर पाने चाही
मृत्युरे लंघिते पार, अन्य पथ नाही !"
आर वार ए भारते के दिबे गो आनी
से महाआनन्दमय, से उदात्त वाणी
संजीवनी; स्वर्गे मर्त्ये सेई मृत्युंजय
परम घोषणा; सेई एकान्त निभय
अनन्त अमृत वानी !
रे मृत भारत !
सुधु सेई एक आछे नाहि अन्य पथ !

(हे महामनीषी ! तुम कौन हो ?—एक समय भारत के किसी अरण्य की छाया में किस आनन्द के उच्छ्वास में आकर तुमने यह उच्चारण किया था ? 'हे विश्व के मनुष्यो ! हे दिव्य धाम के रहने वाले अमृत के पुत्र देवताओं ! सुनो, उस महापुरुष को हमने जान लिया है—वे ज्योतिर्मय पुरुष अन्धकार के उस पार रहते हैं; उन्हें जान कर उनकी ओर दृष्टि करके तुम मृत्यु की सीमा को पार कर सकते हो, और दूसरा मार्ग नहीं है।' हे महर्षि ! वह महा आनन्द मयी—जीवन-संचार करने वाली—उदात्त वाणी,—स्वर्ग और मर्त्य के बीच में मृत्यु के जीतने की वह परम घोषणा,—अनन्त की वह निर्भय अमृत वार्त्ता और कौन देगा ? अरे मृत भारत ! तेरे लिये वही एक मार्ग है, और कोई पथ नहीं है !)

प्राणों में बिजली की स्फूर्ति भर देने वाली, मुरदों में भी जान डाल देने वाली हृदय के सुप्त तारों में झंकार की तीव्र कंपन ध्वनि भर देने वाली अपनी ओजस्विनी कविता में, उसी विषय को लेकर महाकवि फिर कहते हैं—

"ए मृत्यु छेदिते हबे, एई भयजाल,
एई पुञ्ज-पुञ्जीभूत जड़ेर जञ्जाल;
मृत आवर्जना ! ओरे जागितेई हबे
ए दीप्त काले, ए जाग्रत भवे,

एई कर्म धामे ! दुई नेत्र करि आधा
ज्ञाने बाधा; कर्मे बाधा, गति पथे बाधा,
आचारे विचारे बाधा करि दिया दूर
धरिते हइबे मुक्त बिहंगेर सुर
आनन्दे उदार उच्च ! समस्त तिमिर
भेद करि देखिते हइबे उद्र्ध्व सिर
एक पूर्ण ज्योतिर्मये अनन्त भुवने !
घोषणा करिते हबे असेशय मने—
"ओगो दिव्यधामवासी देवगण जतो
मोरा अमृतेर पुत्र तोमादेर मतो।"

(इस मृत्यु का उच्छेद करना होगा—इस भयपाश का कृतान करना होगा —यह एकत्र हुई जड़की राशि—मृत निस्सार पदार्थ दूर करना होगा। अरे —इस उज्ज्वल प्रभात के समय, इस जाग्रत संसार में, इस कर्मभूमि में, तुझे जागना ही होगा। दोनों आँखों के रहते भी वे फूटी हैं; यहाँ ज्ञान में बाधा है, कर्मों में बाधा पड़ रही है, चलने फिरने में भी बाधा है और आचार-विचार ? वे भी बाधा में बँधे हुए हैं। इन सब बाधाओं को पार करना होगा और आनन्दपूर्वक उदार उच्च कण्ठ से मुक्त विहङ्गों का स्वर अलापना होगा। सम्पूर्ण तिमिर-राशि का भेद करके अनन्त भुवनों में एकमात्र ऊर्द्ध्व सिर उस पूर्ण ज्योतिर्मयी की देखना होगा। चित्त की सारी शंकाओं को दूर करके घोषणा कर—'हे दिव्य-धामवासी देवताओ ! तुम्हारी तरह हम भी अमृत के पुत्र हैं !'

महाकवि वर्त्तमान पश्चिमी सभ्यता पर कटाक्ष कर रहे हैं—

"शताब्दीर सूर्य आजि रक्तमेघ माझे
अस्त गेलो,—हिंसार उत्सवे आजि बाजे
अस्त्रे अस्त्रे मरणेर उत्माद-रागिनी
भयंकरी ! दयाहीन सभ्यता-नागिनी
तुलेछे कुटिल फण चक्षेर निमिषे !
गुप्त विष-दन्त-तार भरी तीव्र विषे
स्वार्थे स्वार्थे बेधे संघात लोभे-लोभे
घटेछे संग्राम;—लय मंथन-क्षोभे

भद्र वेशी बर्बरता उरियाछे छागी
अंकशय्या होते ! लज्जा-शरम तेयागी
जाति-प्रेम नाम धरि चण्ड अन्याय !
धर्मेरे भासाते चाहे बलेर वन्याय
कवि-दल चीत्कारिछे जागा भीति
श्मशान-कुक्कुर देर काड़ा काड़ी-गीति !!"

(रक्तवर्ण मेघों में आज शताब्दियों के सूर्य—अस्त हो गये । आज हिंसा के उत्सव में, अस्त्रों की झनकार के साथ ही साथ, मृत्यु की भयंकर उन्माद-रागिनी बज रही है । निर्भय सभ्यता-नागिनी अपने विष वाले दाँतों में तीखा जहर भर कर क्षण-क्षण में अपना कुटिल फन खोल रही है । स्वार्थ के साथ अस्वार्थ का संघात हो रहा है,—लोभ के साथ लोभ का संग्राम मचा हुआ है । मथ कर प्रलय को ला खड़ा करने के उद्दाम रोष से, भद्रवेशिनी बर्बरता अपनी पंक-शय्या से जग कर उठी है, लाज-शर्म से हाथ धो, जाति-प्रेम के नाम से प्रचंड अन्याय धर्म को अपने बाल की बाढ़ में बहा देना चाहता है । कवियों का समूह पंचम स्वर में श्मशान-श्वानों की छीना-झपटी के गीत अलाप रहा है और लोगों में भय का संचार कर रहा है ।)

शताब्दियों के सभ्यता सूर्य को पश्चिमी रक्तवर्ण मेघों में अस्त कर के, पश्चिमी सभ्यता का जो नग्न चित्र महाकवि ने इन पंक्तियों में दिखलाया है, वह तो पूरा उतरा ही है; इसके अलावा महाकवि की साहित्यिक बारीकियों पर भी यहाँ एकाएक ध्यान चला जाता है । उनकी इस उक्ति में जितनी स्वाभाविकता आ गई है, उतनी ही उसमें कवित्व-कला की विभूति भी है । रक्तवर्ण मेघों में सभ्यता-सूर्य अस्त होते हैं । एक तो स्वभावतः सूर्य के अस्त होने पर मेघ लाल-पीले देख पड़ते हैं, दूसर मेघों की रक्तिम आभा पश्चिमी सभ्यता के संग्राम-वर्णन की साहित्यिक छटा को और बढ़ा देती है; क्योंकि संग्राम या रजोगुण का रंग भी लाल है—इसी संग्राम या रजोगुण में शताब्दियों के सभ्यता-सूर्य अस्त हो गये हैं—अब वह उज्ज्वल प्रकाश नहीं है । अब ललाई मात्र रह गई है । इसके बाद है रात्रि का अंधकार-तमोगुण !

जातीय संगीतों के गाने वाले कवियों की उपमा रवीन्द्रनाथ ने मरघट के

कुत्तों से क्यों दी, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन आगे चल कर इस तरह करते हैं—

> "स्वार्थेर समाप्ति अपघाते। अकस्मात्
> पूर्ण स्फूर्ति माझे दारुण आघात
> विदीर्ण विकीर्ण करि चूर्ण करे तारे
> काल-झंझ-झंकारित दुर्योग आंधारे।
> एकेर स्पर्द्धारे कभू नाहीं देय स्थान
> दीर्घकाल निखिलर विराट विधान।
> स्वार्थ जतो पूर्ण हय लोभ-क्षुधानल
> तत तार बेड़े उठे,—विश्व धरातल
> आपनार खाद्य बोली ना करी विचार
> जठरे पूरिते चाय!—बीभत्स आहार
> बीभत्स क्षुधारे करे निदय निलाज।
> तखन गर्जिया नामे तब रुद्र बाज।
> छुटियाछे जाति-प्रेम मृत्युर सन्धाने
> बाही स्वार्ज-तरी, गुप्त पर्वतेर पाने।"

(स्वार्थ की समाप्ति अपघात में होती है—एकाएक स्वार्थी की जान जाती है। जब वह अकड़-अकड़ कर,—सीना तान कर चलने लगता है, तब उसके पाप के घड़े पर बैठती भी है समय का पुरजोर झपेड़ा) और वह फूट कर चूर-चूर हो जाता है। (काल-झंझा के दुर्योगान्धकार में दारुण आघात उसकी परिपूर्ण स्फूर्ति को एकाएक चूर्ण-विचूर्ण कर देता है।)

ईश्वरीय विधान किसी की स्पर्धा को चिरकाल एक-सा नहीं रखता—किसी के यहाँ सब दिन घी के दिये नहीं बलते। और स्वार्थ का पेट जितना ही भरता जाता है, उतना ही वह पैर भी फैलाता जाता है और उसकी भूख भी उतनी ही बढ़ती जाती है। इसीलिये वह, अपना भक्ष्य समझ कर, बिना विचार के ही, तमाम संसार को अपने पेट में डाल लेना चाहता है!—वीभत्स भोजन उसकी वीभत्स क्षुधा को और निर्दय, और निर्लज्ज बनाता जाता है। तभी उसके मस्तक पर, हे विश्वेश! तुम्हारा रुद्र वज्र गरज कर टूट पड़ता है। अतएव, यह (पश्चिमी) जाति-प्रेम, अपनी ही मृत्यु की तलाश

में, स्वार्थ की नाव खेता हुआ गुप्त पर्वत की ओर चला जा रहा है।)

पश्चिम के जिन रक्ताभ मेघों का उल्लेख किया जा चुका है, उनके सम्बन्ध में आप कहते हैं—

"एई पश्चिमेर कोने रक्त-राग-रेखा
नहे कभू सौम्य-रश्मि अरुण लेखा
तव नव प्रभातेर। ए सुधू दारुण
सन्ध्यार प्रलय-दीप्ति! चितार आगुन
पश्चिम-समुद्र-तटे करिछे उद्गार
विष्फुलिंग—स्वार्थ दीप्त लुब्ध सभ्यतार
मशाल हइते लये शेष अग्नि-कण।
गई श्मशानेर माझे शक्तिर साधना
तव आराधना नहे, हे विश्व-पालक!
तोमार निखिल-प्लावी आनन्द आलोक
हय तो लुकाये आछे पूर्व-सिन्धु तीरे
बहु धैर्ये नम्र स्तब्ध दुःखेर तिमिरे
सर्वरिक्त आश्रुसिक्त दैन्येर दीक्षाय
दीर्घकाल-ब्राह्ममुहूर्तेर प्रतीक्षाय!"

(पश्चिम के कोनों में लाल-लाल यह जो रेखा खिंची हुई है, इससे तुम्हारे नव-प्रभात के सौरम्यरश्मि सूर्य की सूचना नहीं होती। यह तो भयंकर सन्ध्या की प्रलय-दीप्ति है। देखो न, समुद्र के पश्चिम तट में चिता की आग से चिनगारियाँ निकल रही हैं और इस चिता में आग कैसे लगी? स्वार्थ से जलती हुई लोभी सभ्यता की मशाल की अन्तिम चिनगारी इस पर पड़ी थी। इस स्मशान में शक्ति की जो आराधना हो रही है वह तुम्हारी आराधना नहीं है। हे विश्वपालक! सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बहा देने वाला तुम्हारे आनन्द का मधुर प्रकाश कहीं समुद्र के पूर्वी तट में छिपा होगा—दुःख के साथ अन्धकार में बड़े धैर्य के साथ नम्र रह कर दीर्घ काल से दीनता की दीक्षा में आँसू बहाता हुआ सर्वस्व गँवा कर वह 'बाह्म मुहूर्त' की प्रतीक्षा करता होगा।)

यहाँ इन पंक्तियों में महाकवि के निर्मल हृदय-पट पर स्वदेश-प्रेम का वही मनोहर चित्र खिंचा हुआ देख पड़ता है, जिसके चारुता-सम्पादन में पहले के ऋषियों और महाऋषियों ने तपस्या करते हुए अपना सम्पूर्ण जीवन पार कर

दिया था। महाकवि के हृदय में ईर्ष्या और द्वेष की एक कणिका भी नहीं देख पड़ती। वे अपनी हृदयहारिणी वर्णना में किसी द्वेष-भाव-मूलक कविता की सृष्टि नहीं करते। वे संसार को वही भाव देते हैं जो उन्हें अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में मिले हैं। जिस तरह वे दूसरी जातियों को जाति-प्रेम के नाम पर खून की नदियाँ बहाते हुए देख कर घृणा पूर्ण शब्दों में याद करते हैं, उसी तरह अपने देश के उद्धार के लिये भी, वे उसे क्रान्ति का पाठ नहीं पढ़ाते। वे तो उसे, प्रतिभा और साहस, धर्म और विश्वास, दैव और पुरुष-कार की सहायता से, निरस्त्र होकर भी संसार के समक्ष वीर्य का उदाहरण रखने के लिये उपदेश देते हैं। यही भारतीयता है और यही उन्होंने जीवन में परिणत कर दिखाया है। उन्होंने अनुभव किया है, संसार के अन्तःस्तल में सर्वव्यापी परमात्मा का ही स्थान है, अतएव वे विरोधी भाव के द्वारा संसार में अपनी युक्ति के बढ़ाने का उपदेश कैसे दे सकते हैं ? इस सम्बन्ध में वे स्वयं कहते हैं—

तोमार निर्द्दिष्ट काले
मुहूर्तेई असम्भव आसे कोथा होते
आपनारे व्यक्त करी आपन आलोते
चिर-प्रतिक्षित चिर-सम्भवेर वेशे !
आछो तुमि अन्तर्यामी ए लज्जित देशे,
सबार अज्ञात सारे हृदये हृदये
गृहे-गृहे रात्रि-दिन जागरुक होये
तोमार निगूढ़ शक्ति करितेछे काज
आमी छाड़ीनाई आशा ओगो महाराज !"

(जब तुम्हारा निर्दिष्ट समय आ जाता है जब असम्भव चिरकाल के आकांक्षित की तरह चिर-सम्भव के रूप में, मुहूर्त में ही अपने को व्यक्त करके न जाने कहाँ से आ जाता है ! हे अन्तर्यामिन् ! इस लज्जित देश में भी तुम हो। सब के अज्ञात भाव से हृदय-हृदय में —गृह-गृह में जाग्रत रह कर तुम्हारी ही गूढ़ शक्ति अपना कार्य कर रही है। अतएव, हे महाराज ! मैंने आशा नहीं छोड़ी।)

देखिये आप महाकवि के भाव को, देखिये उनके हृदय के विश्वास को और

उनकी भारतीयता को। यहाँ महाकवि साधारण तौर पर ईश्वर की ही इच्छा को इच्छा और उन्हीं के कर्म को कर्म मान रहे हैं। उनकी अलक्षित शक्ति के द्वारा ही, समय के आने पर, असम्भव सम्भव के आकार में बदल जाता है और उनकी इच्छा की पूर्ति होती है, इससे बड़ी भारतीयता हमारी समझ में तो और कुछ नहीं हो सकती। क्योंकि, अवतारवाद की जड़ में एकमात्र यही भाव है। असम्भव को सम्भव कर दिखाने की प्रचण्ड-शक्ति को ले कर जो पैदा होते हैं—जिनके आविर्भाव से संसार में एक युग-परिवर्तन-सा हो जाता है, भारत में उन्हें ही अवतार की आख्या दी जाती है। महाकवि भी इस आशय की पुष्टि करते हैं।

इस तरह, स्वदेश के सम्बन्ध में आपने और भी अनेक कविताओं की रचना की है। बङ्गलक्ष्मी, मातार आह्वान्, हिमालय, शान्ति, यात्रा-संगीत, प्रार्थना, शिला-लिपि, भारत-लक्ष्मी, से आमार जननी रे- नववर्षेरगान, भिक्षायां नैव नैव च—आदि कितनी ही कविताएँ महाकवि ने देश-भक्ति के उच्छ्वास में आ कर लिखी हैं और इनमें सभी कविताएँ महाकवि की वर्णन-विशेषता प्रकट कर देती हैं। आपके 'प्राचीन भारत' पद्य का कुछ अंश हम पाठकों के मनोरंजनार्थ उद्धृत कर चुके हैं। लोकाचार या देशाचार को आप किन शब्दों में याद करते हैं, जरा यह भी सुन लीजिये,—बहुत छोटी कविता है, नाम है 'दुइ उपमा'।

> "जे नदी हाराये स्रोत चलिते ना पारे;
> सहस्र शैवाल-दाम बांधे आसि तारे;
> जे जाति जीवनहारा अचल असार
> पदे-पदे बांधे तारे जीर्ण लोकाचार!
> सर्व जन सर्व क्षण चले जेई पथे;
> तृण-गुल्म सेथा नाहीं जन्मे कोनो मते—
> जे जाति चलेना कभू, तारि पथ परे
> तन्त्र मन्त्र संहितार चरण न ा सरे!

जिस नदी का प्रवाह रुक जाता है, वह फिर बह नहीं सकती है। फिर तो सेवार की हजारों जंजीरें उसे आ कर जकड़ लेती हैं। इसी तरह जिस जाति के जीवन का नाश हो गया है—जो जाति अचल और जड़वत हो गई

है, उसे भी, पद-पद पर, जीर्ण-लोकाचार जकड़ लेते हैं। जो आम रास्ता है—जिस पर लोग सब समय चलते-फिरते हैं, उसमें कभी घास नहीं उग सकती। इसी तरह, जो जाति कभी चलती नहीं, उसके पथ पर तन्त्र, मंत्र और संहिताएँ भी पंगु हैं।)

कंधे में भिक्षा की झोली डाल कर जो लोग राज्य-प्राप्ति की आशा से दूसरों का दरवाजा खटखटाया करते हैं; उनके प्रति विदेशियों का कैसा भाव है, इसके सम्बन्ध में भी महाकवि की उक्ति सुन लीजिये। परन्तु पहले हम इतना कह देना चाहते हैं कि रवीन्द्रनाथ अपनी कविता में व्यक्तिगत आक्षेप करके किसी का दिल नहीं दुखाना चाहते। वे जो कुछ कहते हैं, अपने स्वदेश को लक्ष्य करके कहते हैं—

"जे तोमारे दूरे राखि नित्य घृणा करे
हे मोर स्वदेश,
मोरा तारी काछे फिरी सम्मानेर तरे
परी तारी वेश!
विदेशी जानेना तोरे अनादरे ताई
करे अपमान;
मोरा तारी पिछे थाकी योग दिते चाई
आपन सन्मान!
तोमार जे दैन्य मातः ताई भूषा मोर
केन ताहा भूली,
परधने धिक् गर्व, करी कर जोड़
भरी भिक्षा-झूली!
पुण्य हस्ते शाक अन्न तुली दाव पाते
ताई जेनो रुचे,
मोटा वस्त्र बुने दाव यदि निज हाते
ताहे लज्जा घुचे!
सेई सिंहासन यदि अञ्चलटी पातो
करो स्नेह दान;
जे तोमारे तुच्छ करे; से आमारे माता
कि दिबे सम्मान।"

(ऐ मेरे स्वदेश ! जो मनुष्य तुम्हें दूर रख कर नित्य ही तुमसे घृणा किया करता है, हम सम्मान के लिए उसी के वेश में उसके पास चक्कर लगाया करते हैं ! विदेशी तुम्हें (तेरी महत्ता को) नहीं जानते, इसलिये उनमें निरादर का भाव है और वे तुम्हारा अपमान किया करते हैं, और हम तुम्हारी गोद के बच्चे उनके पीछे लगे हुए इस कार्य की सहायता किया करते हैं ! माँ ! तुम्हारी दीनता ही मेरे वस्त्र और आभूषण हैं, इस बात को मैं क्यों भूलूं— माँ ! दूसरे के धन के लिये अगर गर्व हो तो उस गर्व पर धिक्कार है। हाथ जोड़ कर भीख की झोली भरते हैं। माँ ! अपने पवित्र हाथों से तुम जो रोटियाँ और भाजी—थाली पर रख देती हो, ईश्वर करे, उसी भोजन में हमारी रुचि हो, और अपने हाथों से तुम जो मोटे कपड़े बुन देती हो, उन्हीं से हमारी लज्जा-निवृत्ति हो—हमारी देह ढक जाय। अपने स्नेह का दान करने के लिये यदि तुम अपना अंचल बिछा दो, तो हमारे लिये वही सिंहासन है, माँ ! तुम्हें जो तुच्छ समझता है वह हमें कौन-सा सम्मान दे देगा ?)

•

महाकवि का संकल्प

महाकवि रवीन्द्रनाथ की कविताओं का एक भाग अलग है। उसमें कुछ कविताएँ 'संकल्प' के नाम से एकत्र की गई हैं। इन कविताओं में एक विचित्र सौंदर्य है। सावन की सिंची लताओं की तरह इनकी सुकुमार आभा महाकवि के मनोरम काव्योद्यान की और शोभा बढ़ाती हैं। इनसे उनके पल्लवित काव्य-कुंजों में एक दूसरी ही श्री आ गई है। महाकवि के संकल्प के रूप में जो भाव आये हैं, उनसे उनकी सुकुमार कल्पना-प्रियता के साथ उनकी कोमल भावनाओं की यथेष्ट सूचना मिलती है।

कवि के संकल्प के जानने की आवश्यकता भी है। वह क्या चाहता है उसका उद्देश्य क्या है। वह अपने जीवन का प्रवाह किस ओर बहा ले जाना चाहता है, उसकी भावनाओं में किसी खास भाव की अधिकता क्यों हुई ? ये सब बातें हमें अच्छी तरह तभी मालूम हो सकती हैं जब कवि स्वयं उनमें अपनी कवित्व-कला की ज्योति भरे और आइने से भी साफ, इतिहास से भी सरल करके रखे।

महाकवि का संकल्प क्या है, यह उन्हीं के मुख से सुनिये—

"संसार सबाइ जबे साराक्षण शत कर्मे रत
तुइ सुधू छिन्नबाधा पलातक बालकेर मत
मध्याह्ने माठेर माझे एकाकी विषण्ण तरुच्छाये
दूर-वनगन्धवह मन्दगति क्लान्त लप्त वाये

सारा दिन बाजाइली बांशी !--ओरे तुइ उठ आजि
आगुन लेगेछे कोथा ? कार शंख उठियाछे बाजि
जागाते जगत जने ? कोथा होते ध्वनिछे क्रन्दने
शून्यतल ? कोन अन्धकार माझे जर्जर बन्धने
अनाथिनी मागिछे सहाय ? स्फीतकाय अपमान
अक्षमेर वक्ष होते रक्त शोषि करितेछे पान
लक्ष मुख दिया ! वेदनारे करितेछे परिहास
स्वार्थोद्धत अविचार ! संकुचित भीत क्रीतदास
लुकाइछे छद्मवेशे ! ओइ जे दांड़ाये नतशिर
मूक सबे,—म्लान मुखे लेखा सुधू शत शताब्दीर
वेदनार करुण काहिनी; स्कन्धे जतो चापे भार—
बहि चले मन्दगति जतक्षण थाके प्राण तार;—
तार परे सन्तानेरे दिये जाय वंश वंश धरि;
नाहीं भर्त्से अदृष्टेरे, नाहीं निन्दे, देवतारे स्मरि
मानवेरे नाहीं देय दोष, नाहीं जाने अभिमान,
सुधू दुटी अन्न खूंटी कोनो मते कष्ट विनष्ट प्राण
रेखे देय बाँचाइया ! से अन्न जखन केह काड़े,
से प्राणे आधात देय गर्वान्ध निष्ठुर अत्याचारे,
नाहीं जाने कार द्वारे दांड़ाइवे विचारेर आशे,
दरिद्रेर भगवाने बारेक डाकिया दीर्घश्वासे
मरेसे नीरवे;—एइ सब मूढ़ म्लान मूक मुखे
दिते हबे भाषा, एई सब श्रान्त शुष्क भग्न बुके
ध्वनिया तुलिते हबे आशा; डाकिया बलिते हबे—
मुहूर्ते तुलिया सिर एकत्र दांड़ाओ देखी सबे—
जार भये तुमी भीत से अन्याय भीरु तोमा चे ये,
जखनि जागिबे तुमी तखनि से पलाइबे धेये;
जखनि दांड़ाबे तुमी सम्मुखे ताहार,—तखनि से
पथ-कुक्कुरेर मत संकोचे सत्रासे जावे मिशे;
देवता विमुख तारे, केहो नाहीं सहाय ताहार

मुखे करे आस्फालन, जानेसे हीनता आपनार
मने मने !—

(जब संसार में, सब आदमी, सब समय, सैकड़ों कामों में लगे रहते हैं, तब भागे हुए बन्धनविहीन बालक की तरह, दुपहर के समय, बीच मैदान में, तरु की विषादमग्न छाया के नीचे, दूर-दूर के जंगलों से सुगन्ध को ढो कर ले आती हुई—धीमी—थकी और तपी हुई हवा में अकेले बैठे हुए तूने खूब तो बाँसुरी फूँकी; भला आज अब तो उठ। क्या तू नहीं जानता ?—कहाँ आग लगी हुई है,—संसार के आदमियों के जागने के लिये किसका शङ्ख बज रहा है ?—कहाँ के उठते हुए क्रन्दन से आकाश ध्वनित हो रहा है,—किस अन्धेरे में पड़ी बन्धनों से जकड़ी हुई अनाथिनी सहायता की प्रार्थना कर रही है ! अरे देख,—वह देख—पीनोन्नत-शरीर अपमान अक्षमों के वक्ष से खून चूस-चूस कर, अपने लाखों मुखो से पान कर रहा है !—स्वार्थ से उद्धत अविचार वेदना का परिहास कर रहा है !—भय से सिकुड़ा हुआ गुलाम भेष बदल कर छिप रहा है !—वह देख, सब-के-सब सिर झुकाये हुये खड़े हैं—किसी की जबान भी नहीं हिलती !—और देख उनके म्लान मुखों में शत-शत शताब्दियों की वेदना की करुण-कहानी लिखी हुई है !—उनके कन्धे पर जितना भी बोझ रक्खा जाता है, जब तक प्राण है, वे उसे धीरे-धीरे ढोये चलते है, और फिर यही बोझ वे अपनी सन्तानो को वंश-परम्परागत अधिकार के रूप से दे जाते हैं—न इसके लिये अपने भाग्य को ही कोसते है, न विधाता की याद करके उनकी निन्दा ही करते है और न दूसरे मनुष्य को ही कोई दोष देते हैं; अधिक और क्या, वे इसके लिये अभिमान करना भी नहीं जानते; बस चार दाने चुन कर किसी तरह दुःख से पिसे हुए प्राणों को बचाये रक्खे है ! जब कोई उनका यह अन्न भी छीन लेता है—जब गर्वान्ध निष्ठुर अत्याचारी उन जैसे प्राणों को भी आघात पहुँचाता है, तब उसे हाय इतना भी नहीं समझ पड़ता कि विचार की आशा से किस के द्वार पर वह जा कर खड़ा होगा !—यह निश्चय है कि एक वह समय आता है जब दरिद्रों के ईश्वर का एक बार स्मरण कर के दीर्घ श्वास के साथ ही वह अपनी मानव-लीला की समाप्ति कर देता है। इन सब थके हुए—सूखे हुए—भग्न-हृदयों में शब्दों की प्रतिध्वनि के साथ आशा को जागृत करना होगा; इन्हें पुकार-पुकार कर, कहना होगा—'जरा थोड़ी देर के लिये सिर ऊँचा करके एक साथ सब खड़े तो हो जाओ। जिस भय से इतना

तुम डर रहे हो वह अन्याय तुमसे भी भीरु है। तुम जागे नहीं कि वह भागा। तुम उसके सामने खड़े हुए नहीं कि वह रास्ते के कुत्ते की तरह संकोच और त्रास के मारे सिकुड़ कर रह जायगा। उससे देवता भी विमुख हैं, उसका सहायक कोई नहीं, उसका यह जितना रोब-दाब है—जितनी बड़ी-बड़ी बातें वह करता है, यह सब बस जबानी जमाखर्च है—मन ही मन वह अपनी हीनता—अपनी कमजोरियों को खूब समझता है।)

'कवि, तवे उठे एसो,—यदि थाके प्राण
तबे ताई लहो साथे,—तबे ताई आजि कर दान।
बड़ो दुःख बड़ो व्यथा,—सम्मुखे कष्टेर संसार
बड़ई दरिद्र, शून्य, बड़ो क्षुद्र बद्ध अन्धकार
अन्न चाई, प्राण चाई, आलो चाई, चाई मुक्त वायु,
चाई बल, चाई स्वास्थ्य, आनन्द-उज्ज्वल परमायु,
साहस विस्तृत वक्षपट। ए दैन्य माझारे, कवि,
एकवार निये एसो स्वर्ग होते विश्वासेर छवि!
एवार फिराओ मोरे, लाये जाओ संसारेर तीरे।
हे कल्पने, रङ्गमयि! दुलायोना समीरे समीरे
तरंग-तरंगे आर! भुलायो ना मोहिनी मायाय!
विजन विषाद-घन अन्तरेर निकुञ्जच्छायाय
रेखो न बसाये आर! दिन जाय, संध्या होये आसे!
अन्धकारे ढाके दिशि, निराश्वास उदास बातासे
निश्वसिया केंदे उठे वन! बाहिरिनु हेथा होते
उन्मुक्त अम्बर तले, धूसर-प्रसर राजपथे,
जनतार माझ खाने! कोथा जाव, पान्थ, कोथा जाव,
आमी नहीं परिचित, मोर पाने फिरिया ताकाव!
बल मोरे नाम तब, आमारे कोरो न अविश्वास!
सृष्टि छाड़ा सृष्टि माझे बहुकाल करियाछि वास
संगिहीन रात्रि दिन; ताइ मोर अपरूप वेश;
आचार नूतनतर; ताई मोर चक्षे स्वप्नावेश,
वक्षे ज्वल क्षुधानल!—जे दिन जगते चले आसी,
केन् मां आमारे दिली सुधू एई खेलीवार बांशी!

बाजाते बाजाते ताई मुग्ध होये आपनार सुरे
दीर्घ दिन दीर्घ रात्रि चले गेनु एकान्त सुदूरे
छाड़ाये संसार सीमा !—से वांशीते सिखेछि जे सुर
ताहारी उल्लाले यदि गीतशून्य अवसाद-पुर
ध्वनिया तुलिते पारी; मृत्युञ्जयी आशार संगीते,
कर्म हीन जीवनेर एक प्रान्त पारी तरंगिते
सुधू मुहूर्तेर तरे, दुःख यदि पाय तार भाषा,
सुप्ति होते जेगे उठे अन्तरेर गभीर पिपासा
स्वर्गेर अमृत लागी, तबे धन्य हबे मोर गान,
शत शत असन्तोष महागीते लभिवे निर्वाण !,

(कवि ! तो फिर बैठे क्यों हो ?—उठो—चलो,—तुम्हारे पास कुछ नहीं है ?—प्राण ?—प्राण तो हैं।—बस इतना ही अपने साथ ले लो,—आज जरा अपने प्राणों का दान तो कर के देखो। देखो—यहाँ बड़ा दुःख है—बड़ी व्यथाएँ !—देखो अपने सामने जरा उस दुःख के संसार को—बड़ा ही दरिद्र है—शून्य है—क्षुद्र है—बड़ा ही क्षुद्र—अन्धकार में बद्ध हो रहा है !—सुनो उसे अन्न चाहिये—प्राण चाहिये—आलोक चाहिये—खुली हवा चाहिये। और ?—और चाहिये बल-स्वास्थ्य-आयु, आनन्द से भरी, चमकीली, और हृदय दृढ़,—साहस सुविस्तृत। इस दीनता के भीतर कवि ! एक बार-बस एक बार स्वर्ग से विश्वास की छबि उतार लाओ। रंगमयि कल्पने ! अब मुझे लौटा संसार के तट पर ले चल—हवा के झोंकों में, तरंगों में, अब मुझे न झुला—अपनी मोहिनी माया में अब मुझे न मोह—निर्जन और विषाद से गहरी अन्तःस्तल की कुंज-छाया में अब मुझे बैठा न रख। दिन बीत जाता है, शाम हो आती है; दिशाओं को अन्धकार ढक लेता है; आश्वास-तक-न-देने वाले उदास वायु में साँस ले-ले कर वन रो उठता है ! यहाँ से खुले आकाश के नीचे, धूलि-धूसर फैले हुए राज-पथ में, जनता के बीच, मैं निकल गया। पथिक—ओ पथिक ! कहाँ जाते हो ? मुझ से तुम्हारा पहले का कोई परिचय तो नहीं है—परन्तु सुनो, मेरी ओर जरा दृष्टि फेरो; मुझे अपना नाम तो बतलाओ—मुझ पर अविश्वास न करो, मैं एक अजीब आदमी हूँ—जान पड़ता है, सृष्टि से अलग हूँ, परन्तु बहुत दिन मैं इस सृष्टि मे रह भी चुका हूँ—दिन-रात अकेला, बिना-साथी का। इसीलिये तो मेरा

यह विचित्र वेश है,—नये ढंग के आधार हैं; इसीलिये मेरी आँखों में स्वप्न का आवेश है, हृदय में भूख की ज्वाला उठ रही है। माँ! तूने मुझे सिर्फ यह खेलने की वंशी क्यों पकड़ाई, जिस दिन मैं संसार में चला आया था। इसीलिये तो बजाता हुआ अपने स्वर से मुग्ध हो कर, दीर्घ दिन और दीर्घ रात्रि लगातार मैं चलता ही गया और एकान्त में बहुत दूर संसार की सीमा छोड़ कर निकल गया। उस वंशी से जो स्वर मैने सीखा है, उसी के उच्छ्वास से यदि गीत-शून्य इस अवसाद-पुरी को प्रतिध्वनित करके मैं जगा सका—मृत्यु को जीतने वाले आशा के संगीतों से यदि एक मुहूर्त के लिये भी कर्महीन जीवन के एक प्रान्त को मैं तरंगित कर सका—दुःख को यदि भाषा मिल गई—सुप्ति के भीतर से यदि अन्तर की प्रखर प्यास स्वर्ग के अमृत के लिये जग पड़ी,—तो मेरा गान धन्य हो जायगा,—सैकड़ों असन्तोषों को महागीत के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति हो जायगी।)

'कि गाहिबे, कि सुनाबे!—बल; मिथ्या आपनार सुख,
मिथ्या आपनार दुःख! स्वार्थमग्न जे जन विमुख
बृहत् जगत् होते जे कखनो सेखेनी बाँचिते!
महाविश्व जिवनेर तरंगेते नाचिते नाचिते
निर्भये छुटिते हबे सत्येरे करिया ध्रुवतारा!
मृत्युरे करिना शंका! दुर्दिनेर अश्रु जलधारा
मस्तके पड़िबे झरि—तारि माझे जाबो अभिसारे
तार काछे, जीवन सर्वस्वधन अर्पियाछि जारे
जन्म जन्म धरी! — — —
— — — —
— — तारी लागी रात्रि-अन्धकारे
चलेछे मानव-यात्री युग होते युगान्तर पाने
झड़-झंझा वज्रपाते, ज्वालाय धरिया सावधाने
अन्तर प्रदीप खाली! — — —
— — — —
— — —छुटेछे से निर्भीक पराणे
संकट-आवर्तमाझे, दियेछे से विश्व-विसर्जन,
निर्यातन लयेछे से वक्ष पाती; मृत्युर गर्जन

सुनेछे से संगीतेर मतो ! — — —
— — — —

हृत्पिण्ड करिया छिन्न रक्तपद्म अर्घ्य-उपहारे
भक्ति भरे जन्मशोध शेष पूजा पूजियाछे तारे
मरण कृतार्थ करि प्राण ! सुनियाछि तारी लागी
राजपुत्र परियाछ छिन्न कन्था विषम-विरागी
पथेर भिक्षुक; — — — —
— — — —

— —प्रिय जन करियाछ परिहास
अति परिचित अवज्ञाय; गेछ से करिया क्षमा
नीरवे करुण नत्रे—अन्तरे वहिया निरुपमा
सौन्दर्य प्रतिमा ! — — —
— — —सुधु जानी से ताहारी महान
गम्भीर मंगल-ध्वनि सुना जाय समुद्रे समीरे,
ताहारि अंचल-प्रान्त लुटाई नीलाम्बर घिरे,
तारि विश्वविजयिनी परिपूर्ण प्रेम मूर्ति खानी
विकाशे परम ज्ञण प्रियजन मुखे ! सुधू जानी
से विश्व-प्रियार प्रेमे क्षुद्रतार दिया बलिदान
बर्जिजते हइबे दूरे जीवनेर सर्व असम्मान;
सम्मुखे दांड़ाते हवे उन्नत मस्तक उच्चे तुलि—
जे मस्तके भय लेखे नाई लेखा दासत्वेर धूलि
आंके नाई कलंक-तिलक ! ताहारे अन्तरे राखी
जीवन-कण्टक-पथे जेते हवे नीरवे एकाकी,
सुखे-दुखे धैर्य धरी, विरले मूछियां अश्रु आंखी,
तिदिवसेर कर्मे प्रतिदिन निरलस थाकी
सुखी करी सर्व जने ! तार पर दीर्घ पथशेषे
जीवयात्रा-अवसाने क्लान्त पदे रक्त-सिक्त वेशे
उत्तरिव एक दिन श्रान्तिहारा शान्तिर उद्देशे
दुःखहीन निकेतने ! प्रसन्न वदने मन्द हेसे
पराबे महिमा लक्ष्मी भक्त कण्ठे वरमाल्य खानी;

करपद्म परशे शान्त हबे सव-दुःख ग्लानी
सर्व अमङ्गल ! लुटाइया रक्तिम चरण तले
धौत करि दिब पद आजन्मेर रुद्ध अश्रु जले।
सुचिर संचित आला सम्मुखे करिया उद्घाटन
जीवनेर अक्षमता कांदिया करिबे निवेदन,
मागिब अनन्त क्षमा ! हय तो घुचिबे दुःख निशा;
तृप्त हबे एक प्रेमे जीवनेर सर्व प्रेम तृषा !"

(कवि तुम क्या गाओगे ?—क्या सुनाओगे ? यह गाना और सुनाना सब व्यर्थ है। बल्कि यह कहो कि अपने सुख और दुःख मिथ्या हैं। जो मनुष्य अपने स्वार्थ में पड़ा हुआ है, जो बृहत् संसार से विमुख है, उसने बचना नहीं सीखा ! महाविश्व की जीवन-तरंगों पर नाचते हुए, सत्य को ध्रुवतारा करके, निर्भय हो कर हमें तेजी के साथ बढ़ना होगा। हम मृत्यु की शंका नहीं करते। हमारे दुर्दिन की अश्रु जलधारा मस्तक पर झरती रहेगी और उसी के भीतर से हमारा अभिसार उसके निकट जाने के लिये होगा जिसे हम हर जन्म से अपना जीवन-सर्वस्व धन देते आ रहे हैं। × × × उसी के लिये, रात में—अंधेरे में—आँधी, तूफान और वज्रपात में भी मानव-यात्री अन्तर-प्रदीप को जला कर उसे सावधानी से पकड़े हुए एक युग से दूसरे युग की ओर चला जा रहा है। × × × वह संकट के आवर्तों से निर्भय हो कर दौड़ा चला जा रहा है। उसने विश्व का विसर्जन कर दिया है, उसने हृदय खोल कर निर्यातन स्वीकार कर लिया है, उसने मृ के गर्जन को संगीत की तरह सुनाया है। × × × × × अपने हृदय-पिण्ड को छिन्न करके, रक्त पद्म की तरह अर्घ्य और उपहार के रूप में जीवन भर के लिये, भक्तिपूर्वक उसने उसकी अन्तिम पूजा की है—मृत्यु के द्वारा अपने प्राणों को कृतार्थ करके मैंने सुना है, उसी के लिये राज पुत्र ने फटे कपड़े पहने हैं—विषयों से विरक्त हो कर वह रास्ते का, भिक्षुक बन गया है। × × × उसके प्रियजनों ने एक अत्यन्त परिचित अवज्ञा के द्वारा उसका परिहास किया है; परन्तु वह, उन्हें क्षमा करके, करुणा पूर्ण नेत्रों से चुपचाप चला गया है—हृदय में अपनी निरुपमा सौन्दर्य-प्रतिमा का ध्यान लेकर। × × × मैं तो बस इतना ही जानता हूँ कि वह उसी की महान मंगल-ध्वनि है जो समुद्र में और समीर में सुन पड़ रही है, नील अम्बर को घेर कर लोटता हुआ यह उसी के अंचल का

छोर है, उसी की, विश्व को जीत लेने वाला, परिपूर्ण प्रेम की मूर्ति, शुभ समय के आने पर अपने प्रिय के मुख को विकसित कर देती है। मैं बस इतना ही जानता हूँ कि उस विश्वप्रिया के प्रेम में क्षुद्रता की बलि देकर, जीवन के सम्पूर्ण असम्मान को दूर हटाना होगा, उन्नत मस्तक को और ऊँचा करके सामने खड़ा होना होगा—उस मस्तक को उठाना होगा जिसमें भय की रेखा नहीं खिची—दासता की धूलि ने जिस पर कलंक का टीका नहीं लगाया। उसे ही अन्तर में रख कर जीवन के कंटकाकीर्ण मार्ग पर चुपचाप अकेला जाना होगा,—सुख और दुःख में धैर्य रख कर, एकान्त में आँसू पोंछते हुए,—प्रति दिन के कर्मो में सब समय आलस छोड़ और सब आदमियों को सुखी करके। इसके पश्चात् दीर्घ पथ के जीवन की प्रगति की समाप्ति होने पर, थके हुए पैरों और खून में डूबे हुए अपने वेश को ले कर, भ्रांतिहीन शाँति के उद्देश्य पर चलता हुआ एक दिन मैं उस स्थान में पहुँचूंगा जहाँ दु.ख का नाम भी नहीं है। प्रसन्नता पूर्वक मन्द-मन्द हँसती हुई महिमालक्ष्मी भक्त के कण्ठ में वरमाल्य डालेगी, जिसके कर-पद्म का स्पर्श करते ही सम्पूर्ण दुःख, ग्लानि और अमंगल शांत हो जायंगे। उसके रक्तिम चरणों पर लोट कर मैं अपने जीवन भर के रुके हुए आंसुओं से उसके पैर धो दूँगा। चिरकाल से संचित की हुई आशा को उसके सामने प्रकट करके मैं रो-रो कर अपने जीवन की अक्षमताएँ निवेदित करूँगा, और अनन्त क्षमा माँगूंगा; सम्भव है, इससे मेरी दुःख-निशा का अवसान हो और एक ही प्रेम के द्वारा जीवन की सब प्रकार की प्रेम-तृष्णाएँ तृप्त हों।)

कैसा अद्भुत संकल्प है ! कितने ही दिनों से संचित किये हुए भावों का भाण्डार, संकल्प चित्रों में, पाठकों को अमूल्य रत्न दे रहा है। महाकवि के इस संकल्प में, मनुष्य-जीवन का कर्त्तव्य, दीनों की दशा का वर्णन, उनके उत्थान का उपाय, नीचता का तिरस्कार, इन्हीं सब सांसारिक भावों की गणना की गई है। दीनों की दुर्दशा के साथ कवि की पूर्ण सहानुभूति पाई जाती है। परन्तु कवि का यह भाव बदल जाता है। अन्त में वह संसार छोड़ देता हैं। अपने गीतों की भीम गर्जना के द्वारा पददलित संसार को बार-बार प्रतिध्वनित करके जगाना वह भूल जाता है। उसे यह सब अचिर, नश्वर और क्षणस्थायी जान पड़ता है। इस संसार से उसकी विरक्ति हो जाती है। यहाँ बड़ों में भी वह स्वार्थ देखता है और छोटों में उसे वही शब्द सुन पड़ता है। वह इस क्षुद्र जगत को पार कर जाता है। यहाँ मृत्यु को हृदय से लगाने वाले परम प्रेमी

विरागी संसार का त्याग कर चले जाते हैं—जहाँ महाराजाधिराज भी अपनी सुख-सम्पदा को छोड़ कर अपने प्रियतम से मिलने के लिए चले जाते हैं और वज्रप्रहार को भी धैर्यपूर्वक सह लेने के लिये तैयार रहते हैं, आँसुओं को पी कर प्रेम के उस कंटकाकीर्ण पथ को पार करने के लिये कवि भी तैयार हो जाता है। परन्तु जिसके पास पहुँचने के लिए वह इतना उद्यम करता है, वह है कौन ?—सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड की सौन्दर्य-प्रतिमा—जिसके उद्देश्य में कवि प्रेम के अगणित संगीतों की सृष्टि करके बहा देते हैं, आसमान में जिसका आँचल लोटता है।

यह प्रश्न उठता है कि पहले तो कवि दीनों की दुर्दशा का दिग्दर्शन करता है,—उनके अपमान को दूर करने, उन मूकों को भाषा देने, उसमें जीवन संचार करने का संकल्प करता है, वह कवि बन कर अपने स्वर से संसार का प्रांत तरङ्गित कर देने के लिये इच्छा प्रकट करता है—फिर एकाएक उसे इस तरह उसी संसार से विराग क्यों हो जाता है ?

इसका उत्तर देने से पहले हम प्रासगिक कुछ दूसरी बातें कहना चाहते हैं। इस इतने बड़े पद्य मे ऐसी सुन्दर अर्थ-संगति रखना रवीन्द्रनाथ जैसे कवित्व कला के पारदर्शी महाकवि का ही काम था। पहले रवीन्द्रनाथ की अद्‌भुत शब्द-शृंखला पर ध्यान दीजिये। एक-एक भाव की लड़ी चालीस-चालीस पचास-पचास पंक्तियों तक बढ़ती ही चली गयी है; और तारीफ यह कि भाव कहीं छूटने-टूटने नहीं पाया। जान पड़ता है, शब्द और भाव उनके गुलाम हैं, इच्छा मात्र की देर होती है और वे हाथ बाँध कर हाजिर हो जाते है। बहुत विद्वानों की राय है कि, कविता का सौन्दर्य यह है कि शब्द थोड़े हों और भाव अधिक और गहन; इस तरह कविता का सौन्दर्य ज्यादा खुलता है, जैसे बिहारी के दोहे। इस कथन में सत्य की छाया नहीं है सो बात नहीं। परन्तु कविता के सौन्दर्य की व्याख्या के लिये एक कथन को ही सत्य मान लेना वैसी ही भूल होगी जैसी साकार और निराकार के झगड़े में अक्सर हुआ करती है। यह कोई बात नही कि सौन्दर्य विन्दु में ही हुआ करता है, सिन्धु में नहीं। बल्कि यह कहना ठीक होगा कि विन्दु का सौन्दर्य अलग है और सिन्धु का अलग। जो लोग शब्द बिन्दु में कवित्व सिन्धु के भर देने की उच्चकोटि की कविता बतलाने के आदी हो रहे हैं, उनसे हम विनयपूर्वक कहेंगे, भाई ! आपकी उक्ति में तर्क का विरोध होता है। क्योंकि बिन्दु में कभी सिन्धु समा नहीं सकता, हाँ बिन्दु में

सिन्धु का चित्र भले ही पड़ जाय। आँख की पुतली पर संसार का एक बहुत बड़ा चित्र पड़ता है, इसलिए क्या कोई यह कह सकता है कि आँख में संसार समा गया ? वह तो ज्यों का त्यों बाहर ही रहता है, कभी किसी की आँख का आपरेशन करके संसार का एकाध टुकड़ा अब तक बाहर नहीं निकाला गया। बिन्दु में सिन्धु को भर देने वाली बात पर भी यही एतराज है। यह हम मानते हैं कि पथ्य के एक जरा से टुकड़े में सौन्दर्य की मात्रा बहुत हो सकती है, परन्तु इस तरह टुकड़ों में सौन्दर्य भरने के लिए हम कवियों को सलाह नहीं दे सकते। क्योंकि बिन्दु में छाया पड़ने पर सौंदर्य पैदा होता है और सिन्धु में सुन्दर अगणित बिन्दुओं को देख कर और सौन्दर्य। यह कोई बात नहीं कि सब समय थोड़े में ही बड़े दर्शन किये जाय और बड़ों में असंख्य क्षुद्रों के नहीं।

महाकवि रवीन्द्रनाथ के इस पूर्वोद्धृत पद्य में यदि कोई बिन्दु में सिन्धु की छाया देखना चाहे तो उसे निराश होना होगा। उसमें वह आनन्द है जो सिन्धु में अगणित बिन्दुओं को देखकर होता है। अस्तु ! पहले संसार के घोर उत्पीड़न को देखना, उत्पीड़न के यथार्थ मर्मको खोलना, उत्पीड़ितों को उत्पीड़न के सामने लाकर खड़ा करना ! उनके अगनित असन्तोषों को अपने गीत के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति कराना, तब स्वयं निर्वाण के पथ पर निकलना और सत्यं शिवं सुन्दरं की मूर्ति—अपनी निरुपमा सौन्दर्यमयी—से मिलना, इस क्रम में कैसा सुन्दर संगीत है, इस पर पाठक ध्यान दें। रवीन्द्रनाथ तब तक निर्वाण प्राप्ति के लिये नहीं निकलते जब तक सैकड़ों असन्तोषों को उनके गीतों के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो जाती। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ आपने कवि को सम्बोधन करके कहा है—क्या गाओगे—क्या सुनाओगे ! कहो, हमारे ये सुख और दुःख मिथ्या हैं, जो स्वार्थ-मग्न है वह वृहत् संसार से विमुख है—उसने बचना नहीं सीखा, वहाँ उनकी इन पंक्तियों से सूचित हो जाता है कि उनके गीतों से सम्पूर्ण असन्तोषों को निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। यदि सम्पूर्ण असन्तोषों को निर्वाण लाभ हो गया होता तो आगे चल कर स्वार्थमग्न मनुष्यों को वृहत् संसार से विमुख बतला कर महाकवि एकाएक वैराग्य धारण न कर लेते। उन्हीं की पंक्तियों से सूचित होता है कि उनके वैराग्य धारण करने से पहले—निरुपमा सौन्दर्य-प्रतिमा के पास पहुँचने से पहले, संसार में, असन्तोष और स्वार्थ यथेष्ट मात्रा में रह जाते हैं और उनके सुधार से निराश अतएव विरक्त होकर ही मानों वे वैराग्य के पथ पर आते हैं।

हयदोष नहीं है, किन्तु कला की एक उत्कृष्ट विभूति है। सम्पूर्ण असंतोषों को निर्वाण की प्राप्ति न कराना, इसमें कला के साथ-साथ दर्शन की पुष्टि होती है। कला इसमें वह है जिसमें मनुष्य के मन का चित्र दिखलाया है और दर्शन वह जिसमें सनातन सत्य की पुष्टि। रवीन्द्रनाथ यह तो कहते ही नहीं कि पीड़ितों और लांछितों के साथ उनकी कोई सहानुभूति नहीं है। वे उनसे पूर्ण सहानुभूति रखते हैं; कितने ही असन्तोष निर्वाण या सन्तोष के रूप में बदलते हैं—अनेकों का सुधार हो जाता है। परन्तु स्मरण रहे इन अनेकों का सुधार कुछ रवीन्द्रनाथ की इच्छा से नहीं होता—रवीन्द्रनाथ तो सुधार की योजना मात्र पेश करते हैं—सुधार के गीत मात्र गाते हैं, सुधरते हैं लोग अपनी इच्छा से। 'शत-शत असन्तोष महागीते लभिबे निर्वाण', महाकवि की इस उक्ति में शतशत (अनेक, किन्तु सब नही) असन्तोष जीवधारी बतलाये गये हैं। (Personified) और वे स्वयं ही निर्वाण की प्राप्ति करते हैं, व्याकरण की दृष्टि से असन्तोष स्वयं कर्त्ता है और 'लभिबे'—'लाभ करेंगे' उसकी क्रिया, अत: मनुष्य रूपधारी सैकड़ों असन्तोष स्वयं ही निर्वाण की प्राप्ति करते हैं, उनके इस कार्य में रवीन्द्रनाथ का गीत सहायक मात्र है। जिस तरह बिना कारण के कर्त्ता की कार्य-सिद्धि नहीं होती है, उसी तरह, यहाँ बिना महाकवि की सहायता के असन्तोषों को मुक्ति नहीं मिलती है। बस इतना ही श्रेय रवीन्द्रनाथ को दिया जाता है। और कार्यकर्त्ता अपनी इच्छा से ही करता है—असन्तोष अपनी इच्छा से ही मुक्त होते हैं। उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर महाकवि अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करते, इससे उन्होने अपने विशाल शास्त्र ज्ञान का परिचय दिया है, क्योंकि जिस तरह समष्टिगत आत्मा स्वतन्त्र है, उसी तरह व्यक्तिगत आत्मा भी स्वतन्त्र है, और व्यक्ति की कुल क्रियाएँ भी स्वतन्त्र हैं। मनुष्य मन की प्रगति के अनुकूल ही काव्य-चित्र में भाषा-तूलिका को संचालित करके, महाकवि ने कला को विकसित कर दिया है और बहुतों की मुक्ति बतला कर और बहुतों को उसी अवस्था में छोड़ उसी असन्तोष में डाल कर आपने शास्त्रों की एक सच्ची व्याख्या-सी कर दी है। सृष्टि में किसी बीज का नाश नहीं होता। यदि सम्पूर्ण असन्तोष संसार से गया होता टब तो असन्तोष के बीज का नाश ही हो गया था। इससे कविता में एक बहुत बड़ी असंगति आ जाती है। असन्तोष को संसार में पूर्ववत् प्रतिष्ठित रख कर, संसार की क्षुद्रता को छोड़ विश्व-ब्रह्माण्ड की सौंदर्य श्रीके पास कवि का पहुँचना ही

स्वाभाविक हुआ है। अब रही संसार से उनके विमुख होने की बात, सो इसका वृत्तान्त उन्होंने स्वयं ही लिखा है। संसार में वही रह सकता है, जो अस्वार्थ पर है, असंकीर्ण है।

अपने संकल्प-समूहों में अशेष का चित्रण करते हुए महाकवि लिखते हैं—

"आबार आह्वान ?
जतो किछु छिलो काज सांग तो करेछी आज
दीर्घ दिन मान।
जागाये माधवी वन चले गेछे बहु क्षण
प्रत्यूष नवीन !
प्रखर पिपासा हानी पुष्पेर शिशिर टानी
गेछे मध्य दिन।
माठेर पश्चिमे शेषे अपराह्न म्लान हेसे
होलो अवसान,
पर पारे उत्तरिते पा दियेछि तरणीते,
आवार आह्वान ?"

(फिर तुम मुझे बुलाते हो ? जितने मेरे काम थे, उन सबको तो मैंने समाप्त कर डाला—इस दीर्घ दिन के साथ-साथ। नवीन प्रभात तो माधवी वन को जगा कर बहुत पहले ही चला गया है। फूलों की ओस चाट कर, उनमें प्रखर प्यास भर कर दुपहर भी चली गयी है। प्रान्तर के अन्तिम पश्चिमांश में, मलिन भाव से हँस कर पिछला पहर भी डूब गया है ! इस समय, उस पार जाने के लिये मैंने नाव पर पैर रक्खा ही और तुमने मुझे फिर बुलाया ?)

"नामे सन्ध्या तन्द्रालसा सोनार आंचल खसा
हाते दीप शिखा,
दिनेर कल्लोल पर टानी दिया झिल्ली स्वर
घन यवनिका !
ओपारेर कालो कुले काली घनाइया तुले
निशार कालिमा,
गाढ़ से तिमिरतले चक्षु कोथा डूबे चले
नाही पाय सीमा !

नयन पल्लव परे स्वप्न जड़ाइया धरे
थेमे जाय गान;
क्लान्ति टाने अङ्ग मम प्रियार मिनति सम
एखनो आह्वान ?"

(संध्या उतर रही है। नींद से उसकी आँखें अलसाई हुई हैं, उसके सोने का आंचल खुल-खुलकर गिर रहा है, उसके हाथ में प्रदीप की शिखा कैसी शोभा दे रही है। झिल्लियों के स्वर ने रुदन के कल्लोल पर एक घोर यवनिका खींच दी है! रात का अंधेरा उस पार के काले तट की स्याही को और गहरा कर देता है। उस गहरे अंधेरे में आँखें कहीं डूबती चली जाती है, इसका कुछ ओर-छोर नहीं मिलता! आँख की पलकों को स्वप्न जकड़े लेता है, गाना भी रुक जाता है, प्रिया की मिन्नत की तरह क्लान्ति मेरे अंगों की समेटती है, और तुम अब भी मुझे बुला रही हो ?)

"रे मोहिनी, रे निष्ठुरा ओरे रक्त-लोभातुरा
कठोर स्वामिनी,
दिन मोर दिनू तोरे शेषे निते चास हरे
आमार यामिनी,
जगते सबारी आछे संसार-सीमार काछे
कोनो खाने शेष,
केनो आसे मर्मच्छेदि, सकल समाप्ति भेदि,
तोमार आदेश ?
विश्व जोड़ा अन्धकार सकलेरी आपनार
एकेलार स्थान,
कोथा होतें तारो माझे विद्युतेर मतो बाजे
तोमार आह्वान ?"

(अयि मोहिनी—निष्ठुर—खून की प्यासी—मेरी कठोर स्वामिनि! अपना दिन तो मैंने तुझे दिया अब मेरी रात भी तू हर लेना चाहती है ? संसार में, संसार की सीमा के पास, किसी जगह, सब की समाप्ति है, तो फिर मर्म को छेद कर सब समाप्तियों का भेद करता हुआ तेरा आदेश मेरे पास क्यों आता है ? यह विश्व भर में जुड़ा हुआ अंधेरा—यहाँ सब के लिये अकेली जगह अलग

है, इस अंधेरे के भीतर भी बिजली की तरह तेरा आह्वान, कहाँ से आ कर झलक जाता है ?)

"दक्षिण समुद्र पारे तोमार प्रासाद द्वारे
हे जाग्रत रानी,
बाजे ना कि सन्ध्या काक्षे शान्त सुरे क्लान्त ताले
वैराग्येर वाणी ?
सेथाय कि मूक बने घुमाय ना पाखीगणे
आंधार शाखाय ?
तारागुली हर्म्य शिरे उठे ना कि धीरे धीरे
निःशब्द पाखाय ?
लता-वितानेर तले बिछाय ना पुष्प दले
निभृत शयान ?
हे अभ्रान्त शान्तिहीन, शेष होये गेलो दिन
एखनो आह्वान ?"

(दक्षिण समुद्र के उस पार, तुम्हारे महल के दरवाजे, ऐ मेरी जागती हुई रानी ! क्या शाम के वक्त शान्त स्वर और क्लान्त ताल में वैराग्य की वाणी नहीं बजती ?—क्या वहाँ के मूक वनों की अंधेरी शाखाओं पर पक्षी सोते नहीं ? तारे, चुपके-चुपके महल के सीस पर धीरे-धीरे क्या वहाँ नहीं चढ़ते ?—लता वितानों के नीचे, फल-दल, क्या वहाँ एकांत-शय्या की रचना नहीं करते ? ऐ शान्तिहीन अभ्रान्त ! दिन समाप्त हो चुका और तुम अब भी मुझे बुलाते हो ?)

"रहिलो रहिलो तबे आमार आपन सबे,
आमार निराला,
मोर सन्ध्या दीवालोक, पथ-चावा दुटी चोख
चले गांथा माला।
खेया तरी जाक बोये गृह-फेरा लोक लोये
ओ पारेर ग्रामे;
तृतीयार क्षीण शशि धीरे पड़े जाक खसि
कुटिरेर बामे !
रात्रि मोर, शांति मोर, रहिल स्वप्नेर घोर
सुस्निग्ध निर्वाण;

आबार चलिनु फिरे बहि क्लान्त नत शिरे
तोमार आह्वान !
ब्लो तबे कि बाजाबो फूल दिये कि साजाबो
तव द्वारे आज,
रक्त दिये कि लिखिबो, प्राण दिये कि सिखिबो
कि करिबो काज ?
यदि आंखी पड़े ढुले; क्लान्त हस्त यदि भूले
पूर्व निपुणता,
पक्षे नाहीं पाई बल, चक्षे यदि आसे जल
वेधे जाय कथा,
चेयोना को घृणा भरे करोना को अनादरे
मोर अपमान,
मने रेखो, हे निदये, मेनेछिनु असमये
तोमार आह्वान !
सेवक आमार मत रयेछे सहस्र शत
तोमार दुआरे
ताहारा पेयेछे छटी, घुमाये सकले जुटी
पथेर दुधारे ।
सुधू आमि तोरे सेवी विदाय पाइते देवी
डाक क्षणे क्षणे;
बेछे निले आमारेई दुःसह सौभाग्य सेई
बहि प्राणपणे !
सेई गरे जागि रब, सारा रात्रि द्वारे तव
अनिद्र नयान,
सेई गर्वे कण्ठे मम वहि वरमाल्य सम
तोमार आह्वान !"

(अगर इस तरह बुलाना ही तुम्हारा उद्देश्य है, तो यह लो, मेरा सब कुछ, मेरा निर्जन यहीं रहा; मेरा शाम के दिये का उजाला, मेरी रास्ते पर लगी हुई दोनों आँखें, मेरे बड़े प्रयत्न की गुँथी हुई माला, सब कुछ रहा । घर लौटे आदमियों को ले कर, उस पार के गाँव में, खेवा जा रहा है—तो जाय,

तीज का पतला चाँद कुटिया के बाईं ओर—धीरे-धीरे टूट कर गिर रहा है—तो गिर जाय ! मेरी रात, मेरी शान्ति, स्वप्न की गहराई और वह मेरा बहुत ही शीतल निर्वाण, सब कुछ रहा ! अब फिर मैं लौटा—थके और झुके हुए सीस पर तुम्हारा आह्वान ले कर। अच्छा तो अब बतलाओ, मैं क्या बजाऊँ ?—तुम्हारे द्वार पर आज फूलों से क्या सजाऊँ ?—अपना खून बहा कर उससे क्या लिखूं ?—अपने प्राणों का उत्सर्ग करके उससे क्या सीखूं ?—क्या काम करूँ ? अगर आँखें नींद से मुँद जायँ, ढीला हाथ अगर पहले की निपुणता भूल जाय, अगर हृदय को बल न मिले, आँखों में आँसू आ जायँ, बात रुक जायँ, तो मेरी ओर घृणा से न ताकना—अनादर की दृष्टि से मेरा अपमान न करना; ऐ निर्दये ! याद रखना, तुम्हारे असमय के आह्वान को भी मैंने मान लिया था। मुझ से सेवक तुम्हारे द्वार पर हजारों हैं, उन्हें छुट्टी मिल गई है, वे सब एकत्र हो रास्ते के दोनों ओर सो रहे हैं। देवि, तुम्हारी सेवा करके केवल मुझे ही झुट्टी नहीं मिलती, सभी समय मेरी पुकार होती है; अनेक सेवकों में तुमने मुझे ही चुन लिया है, इस दुरूह सौभाग्य की रक्षा मैं दिलोजान से कर रहा हूँ। इसी गर्व से मैं तुम्हारे द्वार पर जागता रहूँगा, झपकियाँ भी न लूंगा, इसी वर्ग से मैं अपने कष्ट में वरमाल्य सा तुम्हारे आह्वान को धारण करूँगा।

"हबे, हबे, हबे जय हे देवी, करिने भय,
हबो आमी जयी !
तोमार आह्वान-वाणी सफल करिबो रानी,
हे महिमामयी।
कांपिबे ना क्लान्त कर, भांगिबे ना कण्ठस्वर
टुटिबे ना वीणा
नवीन प्रभात लागी दीर्घ रात्रि रबो जागि
दीप निभिवे ना !
कर्मभार नवप्राते नव सेवकेर हाते
करि जाबो दान
मोर शेष कंठ स्वरे जाइबो घोषणा करे
तोमार आह्वान !"

(हे देवि, मुझे भय नहीं है, मैं जानता हूँ, मेरी विजय होगी। हे रानी, हे

महिमामयी, तुम्हारी आह्वान-वाणी को मैं सफल करूँगा। थका हुआ भी, मेरा हाथ न काँपेगा, मेरा गला न बैठ जायगा, मेरा वीणा न टूटेगी। नवीन प्रभात के लिये तमाम रात मैं जागता रहूँगा, दिया भी न गुल होगा। नये प्रभात के आने पर कार्यभार तुम्हारे किसी नये सेवक को सौंप जाऊँगा अपने अंतिम कंठ स्वर में तुम्हारे आह्वान की घोषणा करके जाऊँगा।)

किस संकल्प की भीड़ों से, हृदय की किस वासना के मधुर सम पर ठहर-ठहर कर, 'अशेष' की यह रागिनी महाकवि रवीन्द्रनाथ अलाप रहे हैं, इसका पता लगाना बड़ा कठिन काम है। साधारण—मन इस विचित्र ढङ्ग की वर्णना को पढ़ कर, जिसके नाम के साथ सूरत का जरा भी मेल नहीं पाया जाता, स्वभावतः चौंक कर थोड़ी देर के लिए निराधार सा हो जाता है—अर्थ में डुबकी लगाने के लिये कोशिश तो करता है, पर पानी पर उसे बर्फीली चट्टान का एक हास्यास्पद भ्रम हो जाता है। नादान बालक की प्रश्नभरी मौन दृष्टि से इन पंक्तियों की ओर देख कर ही रह जाता है, जटिल अर्थ-ग्रन्थि के सुलझाने का साहस, भाषा के सुदृढ़ दुर्ग को देख कर; पस्त हो जाता है।

परन्तु परिस्थिति वास्तव में ऐसी जटिल नहीं। पंच भूतों में बन्द आत्मा की तरह वह महान होने पर भी दुर्बोध नहीं। भाषा के पींजड़े में भाव-शेर बन्द है,—बड़ा है—प्रखर-नख है, पर कुछ कर नहीं सकता। थोड़ी देर पीजड़े के पास खड़े रहिये, धैर्य के साथ; उसके सब स्वभावों से परिचित हो जाइयेगा, गर्जना भी सुनने को मिल जायगी, और उसकी गर्जना में, यदि आप समझदार हैं, तो उसका भाव भी ताड़ जायंगे कि वह क्या चाहता है।

महाकवि की इस कविता का शीर्षक है 'अशेष', परन्तु अशेषता की साफ छाप कविता की पंक्तियों में कहीं पड़ने नहीं पाई, अशेषता, जीवन के अवश्यम्भावी सत्य किन्तु अज्ञात भविष्य की तरह, भाषा की गोद में बिल्कुल छिप गई है। यह 'अशेष' क्या है ?—वही 'आह्वान' जिसका उल्लेख प्रत्येक भाव के अन्त में होता गया है। कवि सूत्रपात में ही कहता है—'सब काम समाप्त हो चुके,—प्रत्यूष माधवी-वन को जगा कर चला गया—फूलों की ओस पीकर, उनकी प्यास बढ़ा कर, दुपहर भी चली गई, पिछला पहर भी पच्छिम के छोर में ढक गया, सब का अन्त हो गया; पर तुम्हारा आह्वान अब भी है—उसकी समाप्ति नहीं हुई—तुम मुझे अब भी बुला रही हो।' यही 'अशेष' है।

स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि यह आह्वान 'अशेष' है—माना, परन्तु

यह है किसका आह्वान ? यह एक कल्पना मात्र है या इसमें कुछ वास्तविकता भी है ? यदि कल्पना है तो इसकी सार्थकता किस तरह सिद्ध होती है ? यदि वास्तविकता है तो यह क्या है ?

हम इसे कल्पना भी कहेंगे और इसे वास्तविकता का रूप भी देंगे—वास्तविकता से हमारा मतलब सत्य से है। पहले यह सिद्ध करना चाहते हैं कि कल्पना कभी निर्मूल नहीं होती—उसमें भी सत्य की झलक रहती है, अथवा यों कहिये कि कल्पना स्वयं सत्य है। आप कल्पना का विश्लेषण कीजिये। वह है क्या चीज ? एक बहुत सीधा उदाहरण हमारे सामने यह संसार है। शास्त्र कहते हैं, यह कल्पना है। परन्तु क्या कोई इससे संसार को मिथ्या मान लेता है ?—वह उसे सत्य ही देखता है। दूसरे वह अस्तित्वशाली भी है, क्या कोई कह सकता है कि संसार नहीं है ? भारत का एक दर्शन संसार का अस्तित्व नहीं मानता। परन्तु यह कब ? जब वह ब्रह्म में अवस्थित है। जब ब्रह्म में है तब उसके निकट संसार के ये चित्र भी नही हैं। परन्तु संसारियों के लिये संसार कभी असत्य नहीं कहा जा सकता। इसी तरह कल्पना को भी लोग निर्मूल बतलाते हैं, परन्तु संसार की तरह कल्पना भी साधारण है; वह कभी निर्मूल नहीं कही जा सकती। स्वर्ग और पाताल को कवियों ने अपनी कल्पना के बल पर एक करके दिखाने की चेष्टा की है। उनकी वह कल्पना भी बे-सिर-पैर की नहीं हो पाई। यदि उस कल्पना को वे पूरी न उतार दें तो फिर वे कवि कैसे ? एक जगह कविवर रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—रात अपने अंधेरे पंख फैलाये हुए—आ रही है। उनकी इस कल्पना को झूठ बतलाने का अधिकार इस युक्ति से होता है—रात के न पंख होते हैं और न वह उन्हें फैला कर कभी आती है, इस तरह की युक्ति से कल्पना को झूठ बतलाने वाले भ्रम में हैं। इसी कल्पना-को सत्य हम इस युक्ति से कहेंगे—अंधेरे (काले) पंख फैला कर आना स्वाभाविक है और यह स्वाभाविकता पक्षी के लिये है, रात के पंख भले ही न हों, परन्तु यदि रात को पक्षी की उपमा दे कर कवि उसे पंख फैला कर आने के लिये कहता तो यह कोई दोष न था। उपमान-उपमेय साहित्य का एक अङ्ग है, यह सभी साहित्यिक मानते हैं। 'रात, अँधेरे पङ्ख फैला कर आ रही है', यह वाक्य यदि यों कहा जाता—'रात्रि—विहगी अपने अंधकार पंखों को फैला कर आ रही है', तो इसमें किसी को दोष दिखाने का साहस न होता। क्योंकि पंख फैलाना विहगी के लिये ही सिद्ध होता है, रात के हिस्से में रह जाता बस

अन्धकार, परन्तु इस युग की नवीनता संस्कृत के प्राचीन उपमान-उपमेय के बन्धनों से अलग हो गई है। उसे अब उस तरह की वर्णना पसन्द नहीं। अस्तु इस कल्पना में अब असत्य की छाया कहीं नहीं मिलती, और इसी युक्ति से सिद्ध होता है कि कल्पना कभी—असत्य नहीं होती, एक कल्पना में चाहे दूसरी कल्पना भले ही भिड़ा दी जाय और इस तरह के कार्यों में जो जितना कुशल है, साहित्य के मैदान में वह उतना ही बड़ा महारथी। अतएव हम कहेंगे, महाकवि के 'अशेष' में कल्पना भी है और सत्य भी।

अब प्रथम प्रश्न के साथ हम महाकवि की सुलझी हुई भी जटिल-सी जान पड़ने वाली ग्रन्थियों को खोलने की चेष्टा करेंगे। 'आह्वान' अशेष है, यह हम बतला चुके हैं। यह बतलाना है कि यह किसका आह्वान है। हम पुनरुक्ति न करेंगे। आप अशेष के प्रथम दोनों पैराग्राफ पढ़ जाइये, देखिये, पहले संध्या का वर्णन है। फिर रात होती है। दिन भर काम करके थके हुए कवि की पुतलियों से स्वप्न आ कर लिपट जाते हैं—उसका संगीत रुक जाता है—प्रिया की आरजू में अपनी ओर खींच लेने की जो एक विचित्र शक्ति होती है, वही उस समय क्लान्ति को प्राप्त है। वह भी कुल अंग समेट रही है, ऐसे समय कवि को फिर पुकार सुन पड़ती है, वह जरा सुख की नींद नहीं सोने पाता। तभी तीसरे पैराग्राफ के आरम्भ में मोहिनी कह कर भी अपनी स्वामिनी को वह निष्ठुर बतलाता है। मोहिनी इसलिए कि कवि उस पर मुग्ध है; निष्ठुर इसलिये कि कवि के विश्राम के समय भी वह उसे पुकारती है। तभी कवि कहता है, मैंने अपना दिन तो तेरी सेवा में पार कर दिया, अब मेरी रात भी तू हर लेना चाहती है। कितनी स्वाभाविक उक्ति है एक विश्राम प्रार्थी कवि की।

यह पुकार उसकी है जिसकी सेवा में कवि दिन भर रहा था। कवि अपनी कविता को छोड़ कर किसकी सेवा करेंगे? अतएव यह पुकार कविता-कामिनी की है। विश्राम के समय में भी वह कवि को छुट्टी नहीं देती। हृदय में उसकी पुकार खलबली मचा रही है—भाव के अनर्गल स्रोत उमड़ रहे हैं।

जब उस क्लान्त अवस्था में भी कवि अपने को संभाल नहीं सका तब उसके मुँह से यह उक्ति निकली—'यह लो, मेरा सब कुछ रहा, मैं तुम्हारी सेवा के लिये (कविता लिखने के लिये) तैयार होता हूँ। परन्तु यदि नींद से पलकें मुँद जायँ—यदि थका हुआ इसलिये ढीला हाथ पहले वाली निपुणता (पहले की

तरह कविता करने की कुशलता) भूल जाय—आँखों में आँसू भर आये तो ऐ निर्दये, मेरा अपमान न करना, बल्कि यह याद करना कि मैंने असमय में भी तुम्हारा आह्वान स्वीकार कर लिया था।' यही इस कविता की बुनियाद है, परन्तु कितनी मजबूत है, पाठक स्वयं पढ़ कर देखें। इस कविता के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि यह एक वह कृति है जो साहित्य को अमर कर रही है।

संकल्प-समूह में 'भैरवी गान' पर महाकवि की एक कविता है। यह भी साहित्य की एक अमूल्य सम्पत्ति है। महाकवि कहते हैं—

"ओगो　के तुमि बसिया उदास मूरति
　　विषाद-शान्त　शोभाते!
ओई　भैरवी आर गेयोनाको एई
　　प्रभाते!
मोर　गृहछाड़ा एई पथिक पराण
　　तरुण हृदय लोभाते।"

(विषाद के द्वारा इस शांत हुई शोभा में बैठी ओ उदास मूर्ति तुम कौन हो? घर से निकले हुए मेरे इन पथिक प्राणों के तरुण को लुभाने के लिये इस प्रभात में वह भैरवी अब न गाओ।)

"ओई　मन-उदासीन, ओई आशाहीन
　　ओई भाषा हीन काकली
देय　व्याकुल परशे सकल जीवन
　　बिकली।
देय　चरणे बांधिया प्रेम-बाहु घेरा
　　अश्रु-कोमल　शिकली।
हाय　मिछे मने हये जीवनेर व्रत
　　मिछे मने हय सकली।"

(वह मन को उदास कर देने वाली,—बिना आशा की, बिना भाषा की, तान, अपने व्याकुल स्पर्श के साथ मेरे सम्पूर्ण जीवन को विकल कर देती है। वह मेरे पैरों में प्रेम की बाँहों से घिरी आँसुओं से कोमल जंजीर डाल देती है। हाय! उस समय तो फिर जीवन के सम्पूर्ण व्रत झूठे जान पड़ते हैं—सब मिथ्या प्रतीत होते हैं।)

कहीं कुछ नहीं है, भैरवी रागिनी की वर्णना है। उसकी बिना भाषा को

एक तान यह हालत कर देती है। घर छोड़ कर बाहर आये हुए कवि को वह अपना विकल स्पर्श करा,—उसके कानों में पैठ कर अपनी तान—मुरकियों के साथ उसके हृदय में भी मरोर पैदा कर देती है। इतना ही नहीं, वह कवि को उसके घर की भी याद दिला देती है। घर में जिसे अकेली छोड़ कर वह बाहर निकल आया है, उसे भी उसके ध्यान-नेत्रों के सामने ला कर छोड़ जाती है और कवि देखता है कि उसकी प्रियतमा उसके पैरों में आँसुओं से कोमल प्रेम-बाँहों की जंजीर डाल रही है। बस चाल रुक जाती है। फिर वह उसे छोड़ कर बाहर जाने की इच्छा नहीं करता। फिर तो जिन व्रतों की पूर्ति के लिये वह बाहर निकला था, वे सब उनकी प्रेम-प्रतिमा के सामने झूठे जान पड़ते हैं। यह हालत भैरवी की एक तान से होती है, देखा आपने? इसी भाव को पुष्ट करते हुए रवीन्द्रनाथ आगे लिखते हैं—

"जारे फेलिया एसेछि, मने करि, तारे
फिरे देखे आसी शेषवार;
ओई कांदिछे से जेथो एलाए आकुल
केशभार!
जारा गृह-छाये बसि सजल-नयन
मुख में पड़े से सबार।"

(जी चाहता है, जिसे छोड़ कर चला आया हूँ, उसको एक बार और, और इस अन्तिम बार के लिये, क्यों न चल कर देख लूँ? जी कहता है, वह रो रही है—उसकी केश राशि खुल कर बिखर गई है। घर की छाया में बैठे हुए सजल-नयन मेरे घर वालों का मुँह मुझे याद आ रहा है।)

"सेई सारा दिन मान सुनिभृत छाया
तरु-मर्मर-पवने,
सेई मुकुल - आकुल - बकुल - कुञ्ज
भवने,
सेई कुहु - कुहुरित विरह रोदन
थेके थेके पशे श्रवणे!"

(दिन भर की एकान्त छायावाली, पातों को हिलाती हुई हवा में मुकुलों के भार से व्याकुल हुए बकुल-कुंजों के कुटीर में गूँजता हुआ विरह-रोदन रह-कर मेरे कानों में पैठ रहा है।)

कवि अपनी प्रियतमा पत्नी के रोदन की व्याख्या कर रहा है, उसका स्थान निर्द्देश कर रहा है। उसे याद आता है, उसकी पत्नी इस समय उस फुलवाड़ी में है जहाँ दिन भर छाया रहती है। और हवा पातों को झुला जाया करती है, जहाँ मुकुलित मौलश्री के अनेक कुंज हैं और बीच में बैठने का एक कुटीर। वहीं उसकी प्रिया उसकी याद कर-करके आँसुओं से आँचल भिगो रही है। कोयल की कुहू के साथ मिला हुआ उसकी प्रिया का विरह-रोदन उसके कानों में प्रवेश कर रहा है। यह इतना उत्पात, पाठक याद रखें, भैरवी की एक जरा-सी तान सुन कर होता है।

× × × ×

सदा करुण कण्ठे कांदिया गाहिबो—
"होलो ना किछुई हवेना,
एई मायामय भवे चिर दिन किछु
र'बे ना।
केह जीवनेर जतो गुरुभार व्रत
धूलि होते तुलि लवे ना।
एई संशय माझे कोन पथे जाई,
कारतरे मरी खाटिया!
आमि कार पिछे दुखे मरितेछि, बुक
फाटिया!
भवे सत्य मिथ्या के करेछे भाग,
के रेखेछे मत आंटिया!
यदि काज निते हय, कतो काज आछे
एका कि पारिबो करिते!
कांदे शिशिर-विन्दु जगतेर तृषा
हरिते!
केन आकुल सागरे जीवन सँपिबो
एकेला जीर्ण तरीते!
शेषे देखिबो पड़िल सुख-यौवन
फुलेर मतन खसिया
हाय वसन्त-वायु मिछे चले गेलो

श्वसिया !
सेइ जेखाने जगत छिलो एक काले
सेई खाने आछे बोसिया !"

(करुण-कण्ठ से सदा यह रो कर गाऊँगा—'कुछ न हुआ ! कुछ होगा भी नहीं !—न इस मायामय संसार में चिरकाल कुछ रहेगा ही ! जीवन के जितने गुरुभार हैं, उन्हें कोई धूल से उठा भी न लेगा। इस संशय में मैं किस पथ पर जाऊँ ?—मैं इतनी मेहनत भी करूँ तो किसके लिये ? वृथा दुःख से मेरी छाती फटी जा रही है ! किसका दुःख ! संसार में सत्य और मिथ्या का भाग किसी ने किया भी ?—किसने मजबूती से अपना मत पकड़ रक्खा है ? अगर काम ही मुझे लेना है, तो काम बहुत-से हैं; मैं अकेला क्या कर सकता हूँ ? मेरा यह प्रयत्न तो वैसा ही है जैसा संसार को प्यासा देख कर ओस की एक बूँद का रोना ! क्यों मैं अकेला इस अछोर समुद्र की टूटी नाव पर चढ़ कर जान दूँ ? परन्तु अन्त में हाय ! अन्त में देखूँगा, यह सुख का यौवन फूल-सा झर गया है। और वसन्त की हवा वृथा ही साँस ले कर चली जा रही है। इतने पर भी देखूँगा, यह संसार एक समय जहाँ था, वहीं बना हुआ है।'

ये कवि के संकल्प-विकल्प हैं। वह नवीन व्रत की साधना के लिये निकला है, परन्तु अब उसके पैर आगे नहीं बढ़ते। प्रिया का मुँह वह भूल नहीं सकता, यही उसकी कमजोरी है और संकल्प की प्रतिकूलता पर विचार करता हुआ वह कहता है, मेरी आकांक्षा वैसी ही है जैसी ओस के एक बूँद की, संसार की प्यास बुझाने के लिये। वह कहता है, अगर मैं लौट जाऊँ तो देखूँगा, क्रमशः मेरा यौवन मलिन हो कर वार्धक्य की जीर्ण भूमि पर फूल-सा झर कर गिर गया है। उससे कोई काम नहीं हुआ। वसन्त की हवा वृन्त को वृथा ही हिला-झुला कर चली जाती है। और संसार न एक पग बढ़ा न एक पग हटा। इस उक्ति में कवि का यही भाव है कि मनुष्य चाहे कुछ करे, संसार का आसन इससे नहीं डिगता, वह अपने ही स्थान पर अचल भाव से डटा रहता है, उसके पाप और पुण्य, सुख और दुःख, भाव और अभाव पूर्ववत् बने ही रहते हैं।

शिशु-सम्बन्धिनी-रचना

जो कवि और महाकवि होते हैं वे प्रकृति के हरेक कमरे में प्रवेश करने का जन्मसिद्ध अधिकार ले कर आते हैं। वे प्रकृति की प्रत्येक भूमि पर—जनाना महल में भी—बेधड़क चले जाते हैं। प्रकृति को उन पर अविश्वास नहीं। वह उन्हें अपना बहुत ही सच्चरित्र और सुशील बच्चा समझती है, उनसे उसे किसी अनर्थ का भय नहीं। प्रकृति के जिस यथार्थ इतिहास के लिखने का अधिकार ले कर वे आते हैं, उसे वह उनसे छिपा भी नहीं सकती। कारण, वह जानती है, इस पर्दा-सिस्टम का परिणाम उसके लिये अच्छा न होगा। क्योंकि उस तरह संसार से उसकी पूजा उठ जायगी। यही कारण है कि जड़ और चेतन, सबकी प्रकृति कवि को अपना स्वरूप दिखा देती है। वे दर्पन हैं और प्रकृति का प्रत्येक विषय उन पर पड़ने वाला सच्चा बिम्ब है।

बच्चों के लिये, बच्चों ही के स्वभाव की बहुत-सी कविताएँ महाकवि ने लिखी हैं। उनकी ये कविताएँ पढ़ कर बच्चों ही की तरह हृदय में एक अपार आनन्द उमड़ चलता है। दूसरी बात यह कि भाषा का संगठन भी महाकवि ने वैसा ही किया है जैसा अक्सर बच्चों की भाषा में पाया जाता है। इन कविताओं में एक दूसरे ढंग की किन्तु बहुत ही सुहावनी और मनमोहिनी प्रतिभा का विकास देख पड़ता है। इसकी भाषा की तो जितनी भी प्रशंसा हो थोड़ी है। जान पड़ता है, एक बच्चा बोल रहा है। देखिये विषय है, 'ज्योतिष-शास्त्र', परन्तु यह पण्डितों का 'ज्योतिष-शास्त्र' नहीं, यह बच्चों की ज्योति है। महाकवि लिखते हैं—

"आमी सुधू बोसेछिलाम—
कदम गाछेर ढाले।
पूर्णिमा-चांद आट्का पड़े
जखन सन्ध्याकाले
तखन कि केउ तारे
धरे आनते पारे ?'
सुने दादा हेसे केनो
बोलले आमाय 'खोका
तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका !
चाँद जे थाके अनेक दूरे
केमन करे छुंइ !'
आमी बोलि 'दादा तुमी
जानो ना किच्छुइ !
मा आमादेर हासे जखन
ओइ जानलार फांके
तखन तुमि बोलबे कि मा
अनेक दूरे थाके ?'
तबू दादा बले आमाय खोका
तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका।

बच्चा अपनी माँ से कहता है—

(मैंने बस इतना ही कहा था कि जब पूनों का चाँद शाम को कदम्ब की डाली पर अटक जाय तब भला कोई उसे पकड़ कर ले आवे। मेरी बात को सुन कर दादा (बड़े भाई) ने हँसते हुए मुझसे कहा—"लल्ला, तेरे जैसा बेव-कूफ तो मैंने नहीं देखा, चाँद कुछ यहाँ थोड़े ही रहता है जो मैं उसे छू लूं। वह तो बहुत दूर रहता है।" दादा की बात सुन कर मैंने कहा, "दादा, तुम कुछ नहीं जानते। अच्छा उस झरोखे के दराज में जब हम लोग यहाँ से माँ को हँसते हुए देखते हैं तब क्या तुम कहोगे कि माँ बहुत दूर रहती है ?" मेरे इस तरह कहने पर भी दादा ने मुझसे कहा, 'लल्ला, तेरे जैसा बेवकूफ तो मैंने नहीं देखा।')

दादा वले, "पात्री कोथाय
अत बड़ फांद ?"
आमी बोली, "केन दादा
ओइ तो छोटो चाँद,
दुटी मुठोय ओरे
आनते पारी धोरे !"
सुने दादा हेसे केनो
बोलले आमाय; "खोका
तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका !
चाँद यदि एइ काछे आसतो
देखते कतो बड़ो !"
आमी बोली, 'कि तुमी छाई
इस्कूले जे पड़ो।
मा आमादेर चूमो खेते
माथा करे नीचू
तखन कि मार मुखटी देखाय
मस्त बड़ो किछू ?"
तबू दादा वले आमाय, "खोका;
तोर मतो आर देखी नाइतो वोका !'

(दादा ने कहा, 'इतना बड़ा फन्दा तू कहाँ से लायेगा ?' तब मैने कहा, 'क्यों दादा, वह देखो न, छोटा सा तो है चांद, दोनों मुट्ठियों में भर कर, कहो तो उसे पकड़ लाऊँ।' मेरी बात सुन कर दादा ने हँसते हुए कहा, 'लल्ला, तेरी तरह का बेवकूफ तो मैंने नहीं देखा। यह चाँद अगर पास आ जाय तो तू देखता कि यह कितना बड़ा है।' मैंने कहा, 'क्या तुम खाक स्कूल जाते हो ? जब हमारी माँ सिर झुका कर हम लोगों को चूम लेती हैं तब क्या माँ का मुँह बहुत बड़ा हो जाता है ?' मेरे इस तरह के कहने पर भी, दादा ने कहा, 'लल्ला तेरी तरह बेवकूफ तो मैंने नहीं देखा।')

महाकवि की इस कविता का मर्म पाठक समझ गये होंगे। इसमें बच्चे के भोलेपन को किस तरह कविवर की भोली तूलिका अंकित करती है, पाठकों ने देखा होगा। कविता लिखते हुए कवि भी बालक हो गये हैं, भाव बालक, वर्णन

बालक, महाकवि बालक; सहृदय पाठक भी पढ़ते हुए बालपन की सुखद स्मृति में पहुँच कर बालक ही हो जाते हैं। चाँद को पेड़ की ओट में उगा हुआ देख, बालक उसे कदम्ब की डाल पर अटका हुआ कहता है। पेड़ों के छेद से छन कर आती हुई चाँदनी जब दर्शक पर अपनी मोहिनी डाल, उसे चाँद के पास आकर्षित कर ले जाती है, तब वह देखता है, चाँद खुद किसी मोहिनी शक्ति से खिंचा हुआ अपने सुदूर आकाश को छोड़ पेड़ों की डाली से लिपट गया है, जैसे थक कर और चलना न चाहता हो—जड़ पेड़ो से लिपट कर अपनी सहायता की प्रार्थना करता हो—विश्व-विधान से जान बचाने के लिये। कदम्ब की डाली पर चाँद को अटक गया देख बच्चे ने अपने बड़े भाई से उसे ले आने के लिये कहा था! इस पर उसके भाई ने उसे बेवकूफ कहा। इसी बात का उसे रंज है। वह भाई की बात पर विश्वास नहीं कर सका, और करना भी नहीं चाहिये था, कर लेता तो बच्चे की प्रकृति पर प्रौढ़ता की छाप जो लग जाती। परन्तु उसे विश्वास नही हुआ, इस विषय को किसी नीरव उक्ति द्वारा महाकवि ने समाप्त नहीं किया, वे बच्चे की पुरजोर युक्ति भी उसी से कहलाते हैं; वह कहता है, जब हमारी माँ झरोखे से निहारती है तब क्या वह इतनी दूर रहता है कि हम उसके पास जा नहीं सकते? यहाँ मधुर सौंदर्य के साथ कवित्व-कला के एक बहुत ही कोमल दल को महाकवि ने खोल कर खिला दिया है। लघु-हस्त रवीन्द्रनाथ ही इस कोमल पङ्खड़ी को खोल सकते थे, दूसरे के स्पर्श मात्र से दल में दाग लग जाता, फिर वह इस तरह से खुल न सकता था। एक तो चाँद के साथ मुख की उपमा और वह भी बच्चे के अज्ञात भाव से, बच्चे को यह साहित्यिक तौल क्या मालूम, वह तो स्वभावतः अपनी माँ को याद करता है और जिस तरह झरोखे पर बैठी हुई माँ के पास वह अनायास ही जीने पर चढ़ कर चला जा सकता है, उसी तरह अपने भाई के लिये भी, पेड़ पर चढ़ कर चाँद को पकड़ लाना, वह सम्भव सिद्ध करता है। जब उसका भाई कहता है, तब भी उसे विश्वास नहीं होता, वह कहता है, जब हमारी माँ हमें चूमती है, उसका मुँह हमारे मुँह पर रख जाता है, तब क्या वह बहुत बड़ा हो जाता है? जब माँ का मुँह पास आने पर नहीं बड़ा होता तो चाँद कैसे बड़ा हो जायगा? देखिये कितनी मजबूत युक्ति है? कितना भोलापन है! महाकवि की भाषा की तो कुछ बात ही न पूछिये। छोटे-छोटे बच्चे जिस भाषा में बोलते-बतलाते हैं, बिल्कुल वही भाषा, मधुर और खूब मँजी हुई, बच्चों की; पर

कवित्व-रस से सराबोर।

एक कविता है 'समालोचक'। इसमें बच्चा अपने पिता की समालोचना करता है—

"बाबा नाकी बइ लेखे सब निजे!
किच्छुइ बोझा जायना लिखेन किजे!
से दिन पड़े सुनाच्छिलेन तोरे
बुझेछिली बल मां सत्यि कोरे!
एमन लेखाय तबे
बल दिखी की हबे?
तोर मुखे माँ जेमन कथा सुनी
तेमन केनो लेखेन नाको उनी?
ठाकुरमा की बाबा के कक्खनो
राजार कथा सुनायनी को कोनो?
से सब कथागुली
गेछे बुझी भूलि?
स्नान करते बेला होलो देखे
तुमी केबल जाओ माँ डेके डेके,—
खाबार निये तुमिइ बोसे थाको,
से कथा ताँर मनेइ थाके नाको!
करेन सारा बेला
लेखा लेखा खेला!
बाबार घरे आमी खेलते गेले
तुमी आमाय बलो दुष्टू छेले!
बको आमाय गोल करले परे—
"देखिचिस ने लिखछे बाबा घरे?"
बल तो, सत्ति बल,
लिखे की हय फल!
आमी जखन बाबार खाता टेने
लिखी बोसे दोआत कलम एने—
क ख ग घ ङ य र ल व
आमार बेला केन राग करो?

बाबा जखन लेखे
कथा कवना देखे !
बड़ बड़ रुल काटा कागज
नष्ट बाबा करेन ना कि रोज ?
आमी यदि नौका करते चाई
अमनी बलो—नष्ट करते नाई !
सादा कागज, कालो
करले बुझी भालो ?"

बच्चा अपनी माँ से कहता है—

(क्यों माँ ! बाबू जी पुस्तकें लिखते हैं—न ? परन्तु क्या लिखते हैं कुछ खाक समझ में नहीं आता। अच्छा उस दिन तो तुझे पढ़ कर सुना रहे थे, क्या तू कुछ समझती थी, माँ सच-सच बता। अगर तू नहीं समझती तो इस तरह के लिखने से भला होगा क्या ?

माँ, तेरे मुँह से कैसी बातें सुनता हूँ, उस तरह की बातें बाबू जी क्यों नहीं लिखते ? क्या बूढ़ी दादी ने बाबू जी को राजा की बातें कभी नहीं सुनाईं ? वे सब बातें बाबू जी अब भूल गये हैं—क्या ?

माँ, उन्हें नहाने की देर करते देख जब तू उन्हें पुकार-पुकार कर चली आती है, और खाना लिये तू बैठी रहती है, तब क्या उन्हें इस बात की याद भी नही होती ?—दिन भर लिख-लिख कर खेल किया करते हैं !

जब मैं कभी बाबू जी के कमरे में खेलने के लिये जाता हूँ, तब तू मुझे कहती है—क्यों रे तू बड़ा बदमाश है ! चिल्लाने पर तू मुझे बकती है। कहती है, तेरे बाबू जी लिख रहे हैं। अच्छा माँ, सच कहो, लिखने से फल क्या होता है ?

जब मैं बाबू जी का खाता खींच कर दावात-कलम ले, क ख ग घ ङ, य र ल व लिखता हूँ, तब मेरी बारी पर तू क्यों गुस्सा होती है ? और जब बाबू जी लिखते हैं तब तू कुछ नहीं बोलती !

लकीर वाले बड़े-बड़े कागज क्या बाबू जी नहीं बरबाद करते ? जब जब मैं नाव बनाने के लिये माँगता हूँ तब तू कहती है, कागज बरबाद न करना चाहिए। क्यों माँ, सफेद कागज को काला करना ही अच्छा होता है—क्या ?)

यह बच्चे की समालोचना है। युक्ति कितनी मजबूत है! बच्चे की स्वाभाविकता कहीं भी नष्ट नहीं हो पाई। बच्चा हो या वृद्ध, वह अपनी बुद्धि के माप-दण्ड से संसार को नापता है, यही मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्यमात्र इस स्वभाव के वश है। इस स्वभाव को कोई छोड़ भी नहीं सकता। अगर स्वभाव छूट जाय, प्रकृति से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाय, तब यह संसार भी नष्ट हो जाय। भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का घात-प्रतिघात ही संसार है—यही उसकी लीला। अस्तु, प्रकृति या स्वभाव को मनुष्य छोड़ नहीं सकता। हम देखते हैं, हमारे देश में एक विषय पर अनेक प्रकार की समालोचनाएँ हुआ करती हैं; एक विद्वान के मत से दूसरे विद्वान का मत नहीं मिलता। यह क्यों ? इसका कारण बस यही कि उनके स्वभाव जुदा-जुदा हैं —उनकी प्रकृति एक नहीं। मन का एक दूसरा स्वभाव यह भी है कि वह जो कुछ चाहता है, जिसे पसन्द करता है उसी के अनुकूल युक्तियाँ जोड़ता जाता है। बच्चा भी अपनी समालोचना में अपने को अपने बाबू जी से कहीं अधिक बुद्धिमान समझता है, परन्तु उसकी बातों में प्रवीण समालोचकों की रूढ़ता नही है, सरलतापूर्वक वह अपनी माँ से अपने बाबू जी की मूर्खता की जाँच कर रहा है। अपने बाबू जी का लिखना वह खुद नहीं समझ सका, अतएव उसे विश्वास नहीं कि उस भाषा को उसकी माँ समझती होगी। महाकवि ने बच्चे के स्वभाव का बड़ा ही सुन्दर चित्रांकण किया है। बच्चे की दृष्टि में संसार खिलवाड़ है, उसके बाबू जी भी लिख-लिख कर खिलवाड़ किया करते हैं। उसे एक बात का बड़ा दु:ख है। वह जब अपने बाबू जी की दावात और कलम ले कर ककहरा गोदने लगता है, तब उसकी माँ उसे तो डाँटती है; पर उसके बाबू जी से कुछ नहीं बोलती जो दिन भर बैठे हुए खिलवाड़ किया करते हैं। ये कविताएँ निरी सीधी भाषा में लिखी हुई होने पर भी उच्च कोटि की हैं। मनुष्य के मन में पैठना जितना सरल है बालक की प्रकृति को परखना उतना ही कठिन।

अब बच्चे का विज्ञान सुनिये। एक कविता 'वैज्ञानिक' नाम की है। बच्चा अपनी माँ से कहता है—

जेमनी मागो गुरु गुरु
मेघेर पेले साड़ा,
अमनी एल आषाढ़ मासे
बृष्टि जलेर धारा।

पूबे हावा माठ पेरिये
जेमनी पड़लो आसी
बांस बागान सों-सो कोरे
बाजिये दिये बांसी—
अमी देख मा चेये
सकल माटी छेये
कोथा थेके उठलो जे फूल
एतो राशी राशी !
तुई जे भाविस ओरा केवल
अमनी जेनो फुल,
आमार मने हय मा तोदेर
सेटा भारी भूल !
ओरा सब इस्कूलेर छेले
पुंथी पत्र काँखे,
माटीर नीचे ओरा ओदेर
पाठशालाते थाके।
ओरा पड़ा करे
दुआर-वन्द घरे,
खेलते चाइले गुरु मशाय
दांड़ करिये राखे।
बोशेक जैष्टि मासके ओरा
दुपुर बेला कय
आषाढ़ होले आँधार कोरे
विकेल ओदेर हय।
डाल पालारा शब्द करे
घन बनेर माझ
मेघेर डाके तखन ओदेर
साढ़े चारटे बाजे।
ओमनी छुटी पेये
आसे सबाइ धेये,

जानिस मागो ओदेर जेन
आकाशेतेइ बाड़ी
रात्रे जेथाय तारा गुली
दांड़ाय सारी सारी
देखिसने मा बागान छेये
व्यस्त ओरा कतो
बुझते पारिस केनो ओदेर
ताड़ा ताड़ी अतो ?
जानिस कि कार काछे
हाथ बाड़िये आछे
मा कि ओदेर नेइको भाविस
आमार मायेर मतो ?

(माँ ! ज्यों ही गरगराहट से मेघों की आहट पाई जाने लगी, ज्यों ही आषाढ़ की धारा झरने लगी, ज्यों ही पूरब की हवा मैदान पार करके बाँस के झाड़ों में बाँसुरी फूँकती हुई आने लगी, कि फिर तू देख, न जाने कहाँ से ये इतने फूल निकल पड़ते हैं—ढेर के ढेर । तू सोचती होगी, वे ऐसे ही सब फूल हैं—न ? माँ, मुझे तो जान पड़ता है, यह तेरी बहुत बड़ी भूल है । वे फूल नहीं, वे मदरसे के लड़के है, देख न बगल में किताब दबाये हुए है । वे मिट्टी के नीचे अपनी पाठशाला में रहते हैं । हम लोग जैसे दरवाजे खोल कर पढ़ते हैं, वे उस तरह वहीं पढ़ते, वे दरवाजा बन्द कर लेते हैं तब पढ़ते हैं । वे मारे डर के खेलना भी नही चाहते, अगर चाहें भी तो पंडित जी खड़ा कर रखें । उनकी दुपहर कब होती है, तू जानती है ?—वैशाख और जेठ में । और जब आषाढ़ आता है, तब मेघों के अँधेरे में उनका पिछला पहर होता है । और जब घोर जंगलों में डालियों की खड़खड़ाहट हवा की सनसनाहट, और मेघों में गर्जना होने लगती है, तब इस शब्द में उनके साढ़े चार बजते है । बस छुट्टी मिली नहीं कि सबके सब दौड़ पड़े,—जर्द, सफेद, सब्ज और लाल, कितनी ही तरह के कपड़े पहने हुए । माँ । सुन, जान पड़ता है ये सब आकाश में रहते हैं । जहाँ रात को तारे कतार बाँध कर खड़े होते हैं । देख न, बगीचे भर में फैले हुए, कितनी जल्दबाजी देख पड़ती हैं । माँ, क्या तू कह सकती है—उनमें इतनी जल्दबाजी क्यों हैं ? तू जानती है, ये किस के पास हाथ फैलाये हुए हैं ? तू क्या

सोचती है मेरी माँ की तरह उनके माँ नहीं है ?)

बच्चे के मुख से बच्चे की तुलना और बच्चे को आलंकारिक भाषा में, रवीन्द्रनाथ एक बहुत बड़ा तत्व कहला देते हैं। न कहीं अस्वाभाविता है, न असंगति, इतने पर भी वे जो कुछ कहना चाहते हैं, कहा कर पूरा उतार देते हैं। जहाँ बच्चा फूलों के सम्बन्ध में अपनी माँ से कहता है, वे पाताल में पढ़ने के लिए जाते हैं, वहाँ उनका उद्देश्य बीज की शिक्षा के लिए या प्रगति के लिए भेजना हैं—वह संसरणशील हो कर निकलता है। जेठ-वैशाख फूल रूपी छात्रों की दुपहर, मेघों को गर्जना, उनके छुट्टी के समय में की गई घंटे की आवाज है; यह सब अलंकार मात्र है। हाँ, इसमें दलों के विकसित होने की एक वैज्ञानिक व्याख्या भी है, परन्तु इतनी छानबीन की आवश्यकता नहीं। परन्तु जहाँ बच्चा आकाश को उनका घर बतलाता है, वहाँ कल्पना कमाल कर देती है। आकाश तत्व को ही शास्त्रों में सब बीजों का आश्रयस्थल कहा गया है। जहाँ बच्चा अपनी माँ से कहता है, मेरे जिस तरह माँ है, उस तरह उनके भी माँ हैं, वही एक दूसरे सूक्ष्म सोपान पर पहुँच कर शास्त्र के सर्वोच्च सत्य को महाकवि जिस खूबी से सिद्ध कर देते हैं, उसकी प्रशंसा के लिये एक भी उचित शब्द मुँह से नहीं निकलता। आकाश को घर बतला कर यदि कवि चुप रह गये होते तो उनसे एक बहुत बड़ी गलती हो जाती; क्योंकि घर का मालिक भी तो एक होता है। उसकी फिर कोई पहचान नहीं हो सकती थी। परन्तु बच्चे के मुख से उसका भी उल्लेख आपने करा दिया और मालकिन के रूप में फूलों की माँ बतला कर। वह है ब्रह्म, आकाश से भी सूक्ष्म—आकाश की सूक्ष्मता में अवस्थान करने वाला—सबका जनक—सबकी जननी। बच्चे के मुख से इतनी स्वाभाविक भाषा और स्वाभाविक वर्णन के द्वारा इतना ऊँचा विज्ञान कहला कर बच्चे को पूरी तरह सिद्ध कर देना साधारण मनुष्य का काम नहीं। महाकवि रवीन्द्रनाथ ने जिस सरलता से इतना गहन तत्व कह डाला है, दूसरे के लिये इसका प्रयास उतना ही दुस्साध्य है।

बच्चों की भाषा में 'नदी' पर आपने कविता लिखी है। कविता बहुत बड़ी है। कुछ अंश हम उद्धृत करते हैं। देखिये, सीधी भाषा में भी कितने ऊँचे भाव आ सकते हैं—

"ओरे तोरा कि जानिस केउ
जले केनो उठे एतो ढेउ !

ओरा दिवस रजनी नाचे,
ताहा शिखेछे काहार काछे ?
सुन चल् चल् छल् छल्
सदाइ गाहिया चलेछे जल ।
ओरा कार डाके बाहु तुल,
ओरा कार कोले बोस दुल ?
सदा हेसे करे लुटो पुटी,
चले कोन् खाने छुटो छुटी ?
ओरा सकलर मन तुषी
आछे आपनार मन खुशी ।

:o: :o: :o:

आमी बोसे बोसे ताइ भाबी
नदी कोथा होते एला नाबी !
कोथाय पाहाड़ स कोन खाने,
ताहार नाम कि केहइ जाने ?
केहो जेते पारे तार काछे ?
सेथाय मानुष कि कउ आछे ?
सेथा नाही तरु नाही घास,
नाही पशु पाखीदर वास,
सेथा शब्द किछु ना सुनी
पाहाड़ बोसे आछे महामुनि !
ताहार माथार उपरे शुधु—
सादा बरफ करिछे धूधू
सेथा राशि-राशि मेघ जतो
थाके गरेर छेलर मतो ।
सुधु हिमेर मतन हावा,
सेथाय करे सदा आसा-जावा,
सुधु सारा रात तारा गुली
तारे चेये देखे आंखीं खुली ।

सुधु भोरेर किरण एसे
तारे मुकुट पराय हेसे।
:o: :o: :o:
सेई नील आकाशेर पाये,
सेथा कोमल मेघेर गाये,
सेथा सादा बरफेर वुके
नदी घुमाय स्वप्न - सुखे।
कबे मुखे तार रोद लेगे
नदी आपनी उठिलो जेगे
कबे एकदा रोदेर बेला
ताहार मने पड़े गेलो खेला,
सेथाय एका छिलो दिन राती
केहइ छिलो ना ताहार साथी;
सेथाय कथा नाई कारो घरे;
सेथाय गान केह नाहीं करे।
ताइ झुम झुम फिरि फिरि
नदी बाहिरिलो धिरा - धिरी
मने भाविलो जा आछे भवे
सबइ देखिया लइते हबे
नीचे पाहाड़ेर बुक जुड़े
गाछ उठेछे आकाश फुंड़े।
तारा बुड़ो बुड़ो तरु जतो,
तादेर बयस के जाने कतो!
तादेर खोपे-खोपे गाँठे गाँठे
पाखी बासा बाँधे कुटो-काठे।
तारा डाल तुले कालो कालो
आड़ाल करेछे रविर आलो।
तादेर शाखाय जटार मतो
झुले पड़ेछे शेवला जतो।
तारा मिलाये मिलाये कांध

जेनो पेतेछे आँधार फाँद
तादेर तले - तले निरिबिली
नदी हेसे चले खिलि खिली।
तारे के पारे राखिते धरे
से जे छुटी छुटी जाय सरे।
से जे सदा खेले लुको चुरी,
ताहार पाये पाये बाजे तुड़ी।

:o: :o: :o:

पाथे शिला आछे राशि राशि
ताहा ठेलि चले हासि हासि।
पाहाड़ यदि थाके पथ जुड़े,
नदी हेसे जाय बेके चुरे।
सेथा बास करे शि - तोला
जतो बुनो गाछ दाड़ी-झोला।
सेथाय हरिण रोंवांय भरा
तारा कारेव देय ना धरा।
सेथाय मानुष नूतन तरो
तादेर शरीर कठिन बड़ो।
तादेर चोक दुटो नय सोजा,
तादेर कथा नाहीं जाय बोझा,
तारा पाहाडेर छेले मेये
सदाई काज करे गान गेये।
तारा सारा दिन मान खेटे,
आने बोझा भरा काठ केटे।
तारा चड़िया शिखर परे
बनेर हरिण शिकार करे।

:o: :o: :o:

नदी जतो आगे आगे चले
ततोइ साथी जुटे दले दले।

तारा तारी मतो, घर होते
सबाइ बाहिर होयेछे पथे;
पाये ठुन-ठुन बाजे तुड़ी,
जेनो बाजिते छे मल चुड़ी;
गाये आलो करे झिक झिक,
येन परेछे हीरार चीक।
मुखे कल कल कतो भाषे
एतो कथा कोथा होते आसे।
शेषे सखीते सखीते मेली
हेसे गाये गाये हेला हेली।
शेषे कोला कुली कलरवे
तारा एक होये जाय सबे।
तखन कल कल छूटे जल,
काँपे टलमल धरातल,
कोथाओ नीचे पड़े झर झर,
पाथर केंपे उठे थर थर,
शिला खान-खान जाय टुटे,
नदी चले एलो केटे कुटे।
धारे गाछगुलो बड़ो बड़ो
तारा होये पड़े पड़ो-पड़ो।
कत बड़ो पाथरेर चाप
जले खसे पड़े झुप-झाप।
तखन माटी गोला घोला जले
फेना भेसे जाय दल-दले।
जले पाक घुरे घुरे उठे,
जेन पागलेर मतो छुटे

× × ×

(क्यों जी, क्या तुम कोई कह सकते हो, ये पानी में इतनी तरंगें क्यों उठती हैं ? वे दिन-रात नाचती रहती हैं; अच्छा यह नाच उन लोगों ने किससे सीखा है ? सुनो, चल्-चल् छल्-छल् गाती हुई चली जा रही हैं। वे बाहें पसार·

कर किसे बुलाती हैं ? देखो —वे झूम रही —बता दो मुझे—वे किसकी गोद पर बैठ कर झूम रही हैं ? सदा हँस-हँस कर लहालोट हो जाती हैं, और दौड़ी चली जा रही हैं—किसकी ओर जा रही है ? वे सबके मन को संतुष्ट करके खुद भी आनन्द में हैं ।

× × ×

बैठा हुआ मैं यह सोचता हूँ कि नदी कहाँ से उतर कर आई है ? वह पहाड़ भी कहाँ है ? क्या उसका नाम कोई जानता है ? क्या वहाँ कोई आदमी भी रहता है ? वहाँ तो न पेड़ है न घास; न वहाँ पशु-पक्षियों का घर है, वहाँ का कोई शब्द भी तो नहीं सुन पड़ता, बस एकमात्र महर्षि पर्वत बैठे हुए हैं ! उनके सिर पर केवल सफेद बर्फ छाई हुई है । कितने ही मेघ घर से बच्चे की तरह वहाँ रहते हैं ! सिर्फ हिम की तरह ठंढी हवा सदा आया-जाया करती है, उसे कोई देखता है तो बस सारी रात आँखें फाड़-फाड़ कर उसे देखते ही रहते हैं । केवल सुबह की किरण वहाँ आती है और हँस कर उसे मुकुट पहना जाती है ।

× × ×

उस नीले आसमान के पैरों पर कोमल मेंघों की देह में, शुभ्र तुषार की छाती पर अपने स्वप्नमय सुख के साथ नदी सोती रहती है ! न जाने कब उसके मुँह में धूप लगी थी, देखा न नदी जग पड़ी है । धूप के लगने पर उसे न जाने कब खेल की याद आ गई ! वहाँ उसके खेलने के साथी और कोई न थे, थे बस दिन और रात ! वहाँ किसी के घर में बात-चीत नही होती, कोई गाता भी नही । इसीलिये तो धीरे-धीरे झिर-झिर झुर-झुर करती हुई नदी वहाँ से निकल चली । उसने सोचा, संसार में जो कुछ है, सब देख लेना चाहिये । नीचे पहाड़ की छाती भर में फैले आकाश को छेद कर पेड़ निकले हुए हैं । वे सब बड़े पुराने पेड़ हैं, उम्र उनकी कौन जाने कितनी होगी ! उनके कोटरों में और हर एक गाँठ में लकड़ियाँ और तिनके चुन-चुन कर पक्षी घोसले बनाते हैं । उन लोगों ने काली-काली डालियाँ फैला फैला कर सूरज के उजाले को बिल्कुल छिपा लिया है । उनकी फूलों में जटा की तरह न जाने कितना सिवार लिपटा हुआ झूल रहा है । उन्होंने एक-दूसरे के कन्धे से कन्धा मिला कर मानों अन्धकार का जाल बिछा रखा है । उनके नीचे बड़ा एकांत है, नदी वहाँ जा कर हँस पड़ती है, और हँसती हुई वहाँ से चल देती है । उसे अगर कोई पकड़ना चाहे तो पकड़ नहीं सकता, वह दौड़ कर भाग जाती है । वह सदा इसी तरह

छुई-छुअल खेलती रहती है और उसके पैरों में पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े बजते रहते हैं।

× × ×

रास्ते पर जो शिलाओं की राशि मिलती है, उसे वह मुस्कराती हुई पैरों से ठेल कर चली जाती है। पहाड़ अगर रास्ता घेरे हुए खड़ा हुआ हो तो हँसती हुई, वह वहाँ से घूम कर जाती है। वहाँ ऊँचे उठी सींगों और लटकती हुई दाढ़ी वाले सब जङ्गली बकरे रहते हैं। वहाँ रोओं से भरे हुए हिरन रहते हैं, वे किसी को पकड़ाई नहीं देते। वहाँ एक नये ढंग के आदमी रहते हैं। उनकी देह बड़ी मजबूत होती है। उनकी आँखें तिरछी होती हैं और उनकी बात समझ में नहीं आती। वे पहाड़ की संतानें हैं। वे सदा गाते हुए काम करते हैं। वे दिन भर मिहनत करके बोझ भर लकड़ी काट कर लाते हैं। वे पहाड़ की चोटी पर चढ़ कर जंगली हिरणों का शिकार किया करते हैं।

× × ×

नदी जितनी ही आगे-आगे चलती है, उतने ही उसके साथी भी होते जाते हैं; दल के दल उसकी तरह वे भी घर-द्वार छोड़ कर निकल पड़े हैं। उसके पैरों में पत्थर की गोलियों की ठनकार होती रहती है, जैसे कड़े और चूड़ियाँ बजती हों। उसकी देह में किरणें ऐसी चमकती हैं जैसे उसने हीरे की चिक (टीक) पहनी हो। उसके मुख में कल कल स्वर से कितनी ही भाषायें निकलती हैं, भला इतनी बात कहाँ से आती है? अन्त में सब सखियाँ एक-दूसरे से मिल-जुल कर हँसती हुई झूम-झूम कर एक दूसरे की देह में गिरती हैं। फिर— भेंटते समय के कलरव के साथ ही वे सब एक हो जाती हैं। तब कल-कल स्वर से पानी बह चलता है, धरा ट्लमल् टल्मल् काँपने लगती है। कहीं झर-झर स्वर से पानी नीचे गिरता है, और पत्थर थर्राने लगता है। शिलाओं के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, नदी, नाला काट कर चली जाती है। रास्ते के जितने बड़े-बड़े पेड़ हैं सब गिरने पर हो जाते हैं। कितने ही बड़े-बड़े पत्थरों के चहार टूट-टूट कर झपाझप पानी में गिरने लगते हैं। तब गली हुई मिट्टी के गंदले पानी में फेनों का दल बह चलता है। यानी भंवर उठती है और पागल की तरह वह भी दौड़ चलती है।

नदी पर लिखी महाकवि की इस कविता की आलोचना करने की आवश्यकता नहीं। कविता के भाव आपने खूब प्रस्फुट कर दिये हैं।

बच्चों के लिये ऊँचे भावों की साहित्यिक कविता भी बहुत अच्छी की जा सकती है, इसका आँखों देखा प्रमाण आपको इन पंक्तियों से मिल जायगा। एक दूसरी कविता पढ़िये। नाम है 'मास्टर बाबू'। यहाँ बच्चा खुद मास्टर की कुर्सी ग्रहण करता हैं। उसका छात्र है बिल्ली का बच्चा। बंगाल में एक कहानी बहुत प्रचलित है। किसी स्यार (मास्टर साहब) ने एक मदरसा खोला था। उसमें सैकड़ों झींगुर और कितने ही चौपाये—छेपाये और सैकड़ों पैरवाले जीवों के बच्चे पढ़ने के लिये आते थे। अस्तु कहानी बहुत लम्बी-चौड़ी है, हम तो बिल्ली के बच्चे के पढ़ाने वाले मानव शिशु के मास्टर बनने का कारण मात्र बतलाना चाहते हैं। कहना न होगा कि बच्चे को वह प्रचलित कहानी सुन कर ही काल्टर बनने का शौक चर्राया था। बच्चा खुद भी पाठशाला जाता है, शायद पहली पुस्तक पढ़ चुका है, उसके पढ़ने के ढङ्ग से यह बात प्रकट हो जाती है। उसने स्वयं जो पाठ याद किया है, वही बिल्ली के बच्चे को भी पढ़ाता है। हाँ, जिस स्यार ने पाठशाला खोली थी, उसने अपना नाम 'कनाई मास्टर' रखा था। इसीलिये बच्चा कहता है—

"आमी आज कानाई मास्टर
पड़ो मोर बेराल छानाटी,
आमी ओके मारिने मा बेंत
मिछि मिछि बसी निये काठी !
रोज रोज देरी करे आसे,
पड़ाते देय ना ओ तो मन,
डान पा तुलिये तुले हाइ
जतो आमी बोली सुन् सुन्।
दिन-रात खेला खेला खेला,
लेखाय पड़ाय भारी हेला।
आमी बोली च छ ज झ ञ,
ओ केवल बोले म्यों म्यों।
प्रथम भागेर पाता खुले
आमी ओरे बोझाई मा कतो
चुरी करे खासने कखनो
भागो होस गोपालेर मतो !

जतो बोली सब हय मिछे
कथा यदि एकटी ओ सुने !
माछ यदि देखेछे कोथाव
किछुई थाके ना आर मने !
चड़ाइ पाखीर देखा पेले
छुटे जाय सब पड़ा फेले !
यदि बोली च छ ज झ ञ
दुष्टुमि करे बले म्यों !
आमि ओरे बोली बार बार
पड़ार समय तुमी पड़ो—
तार परे छुटी होये गले
खेलार समय खेला कोरो !
भालो मानुपेर मतो थाके
आड़े आड़े चाय मुख पाने,
एमनी ने भान करे, जेनो
जा बोली बुझेछे तार माने !
एकटू सुयोग बुझे जेई
कोथा जाय आर देखा नेइ !
आमी बोली च छ ज झ ञ
ओ केवल बोले म्यों-म्यों !

(मै आज कानाई मास्टर हूँ, मेरे बिल्ली के बच्चे पढ़ो ! मैं उसे बेंत नहीं मारता, दिखाव भर के लिये लकड़ी लेकर बैठता हूँ, समझी माँ ! रोज देर करके आता है, पढ़ने में उसका जी भी नहीं लगता। दाहिना पैर उठा कर जंभाई लेने लगता है चाहे कितना भी उसे समझाऊँ ! दिन-रात बस खेल-कूद में पड़ा रहा है, पढ़ने-लिखने की ओर तो ध्यान देता ही नहीं। मैं जब कहता हूँ,—च, छ, ज, झ, ञ, तब वह बस म्यों-म्यों किया करता है। माँ पहली किताब के पन्ने खोल कर मैं उसे समझाता हूँ, कभी चुरा कर न खाना, गोपाल की तरह भला मानस बन। परन्तु चाहे जितना कहूँ एक भी बात उसके कान में नहीं पड़ती। कहीं मछली देखी कि रहा-सहा भी सब भूल गया। अगर कहीं उसने "चड़ाई" गौरइया पक्षी देख लिया तो बस सब पढ़ना-लिखना छोड़ कर

दौड़ा ! जब मैं कहता हूँ—च छ ज झ ञ तब वह म्यों-म्यों कर के रह जाता है। मैं उससे बार-बार कहता हूँ पढ़ने के वक्त पढ़ा करो, जब छुट्टी हो जाय, तब खेलने के वक्त खेलना। भलेमानस की तरह बैठा रहता है तिरछी, निगाह करके मेरा मुँह ताकता है, ऐसा भाव बतलाता है जैसे उसका अर्थ सब समझता हो। जहाँ कहीं जरा-सा मौका मिला कि उड़ जाता है, बस फिर दर्शन ही नहीं।

कविवर रवीन्द्रनाथ ने बच्चों की भाषा में ऐसी कितनी ही कविताएँ लिखी हैं। पढ़ कर बच्चों के स्वभाव पर उनका विचित्र अधिकार देख मुग्ध हो जाना पड़ता है।

•

श्रृंगार

जहाँ रवीन्द्रनाथ ने विश्व-प्रकृति के श्रृङ्गार-भाव का चित्रांकण किया है, वहाँ उन्होंने उसके कोमल सौंदर्य की जितनी विभूतियाँ हैं, उन्हें बड़ी निपुणता के साथ प्रस्फुट कर दिखाया है। उनकी यह कला बड़ी ही मनोहारिणी है। वे बाहरी सौंदर्य के इधर-उधर बिखरे हुए—प्रक्षिप्त अंशों को जिस सावधानी से चुन कर उनका एक ही जगह समावेश कर देते हैं, उनकी अवलोकन शक्ति इतनी प्रखर जान पड़ती है कि मानो उसके प्रकाश में एक छोटी से छोटी वस्तु भी नहीं छूटने पाती, जैसे पूर्णता स्वयं उन्हें अवलोकन की राह बता रही हो। दूसरी खूबी, उनके वर्णन की है। प्रकृति का पर्यवेक्षण करने वाला ही कवि नहीं हो जाता, उसे और भी बहुत-सी बातों की नाप-तौल करनी पड़ती है। एक ही शब्द के पर्यायवाची अनेक शब्द होते हैं। उनमें किस शब्द का प्रयोग उचित होगा, किस शब्द से कविता में भाव की व्यंजना अधिक होगी, इसका भी ज्ञान कवियों को रखना पड़ता है। शब्दों की इस परीक्षा में रवीन्द्र-नाथ अद्वितीय हैं। आप से पहले हेमचन्द्र, नवीनचन्द्र, माइकेल मधुसूदन, आदि बंगभाषा के बहुत बड़े-बड़े कवि हो गये हैं, परन्तु यह परख रवीन्द्रनाथ की जितनी जंची-तुली होती है, उतनी उनसे पहले के किसी कवि में नहीं पाई जाती। छन्दों के लिये तो रवीन्द्रनाथ को आप रत्नाकर कह सकते हैं। इतने छन्दों की सृष्टि संसार में किसी दूसरे कवि ने नहीं की। रवीन्द्रनाथ के छन्दों से उनके भावों की व्यंजना और अच्छी तरह प्रकट होती है। जिस तरह, शब्दों

के बिना, रागिनी के सच्चे अलाप से उसका यथार्थ चित्र श्रोताओं के सामने अंकित हो जाता है, उसी तरह छन्दों के आवर्त से ही रवीन्द्रनाथ की कविता का भाव प्रयत्क्ष होने लगता है।

एक कविता है 'याचना'। कविता शृंगार-रस की है, बहुत छोटी है। परन्तु उतने ही में नायक की याचना पूरी हो जाती है। वह जितने तरह की याचनाएँ अपनी नायिका से कर सकता है, सब उतने में ही आ जाती हैं। तारीफ यह कि है तो शृंगाररस, परन्तु अश्लील याचना कहीं नहीं होती। सब याच-नाओं में भाव की ही भिक्षा पाई जाती है। पढ़ कर पाठकों को फिर क्यों न भावावेश हो जाय?

'भालो बेसे सखि निभृत यतने
आमार नामटी लिखियो—तोमार
मनेर मन्दिरे। (१)
आमार पराणे जे गान बाजिछे
ताहार तालटी सिखियो—तोमार
चरणमंजिरे।" (२)

अर्थः—ऐ सखि! प्यार करके, एकान्त में यत्नपूर्वक, अपने मनोमन्दिर में मेरा नाम लिख लेना (१)। मेरे प्राणों में जो संगीत बज रहा है, उसकी ताल, अपने पैरों में बजने वाले नूपुरों से सीख लेना (२)।

नायक की प्रार्थना कितनी सीधी है, परन्तु कहने का ढंग गजब कर रहा है। मूल कविता में कला की कहीं कोई कसर नहीं रहने पाई, बल्कि उसका रूप इतना सुन्दर अंकित हो गया कि बड़े-बड़े वाक्यों की प्रशंसा भी उसके आसन तक नहीं पहुँच पाती। भावों के साथ रवीन्द्रनाथ के छन्द और भाषा पर भी ध्यान दीजिये। जो जिसे प्यार करता है और दिल से प्यार करता है, वह उसका नाम प्रकट नहीं होने देता। वह उसको हृदय के सबसे गुप्त स्थान में छिपाये रहता है। नायिका से नायक की यही याचना है। पद्य के दूसरे हिस्सेवाली नायक की याचना कलेजे में चोट कर जाती है। उसके प्राणों में उसकी प्रियतमा की जो रागिनी बज रही है—प्यार की जो अलाप उठ रही है, उसकी ताल उसकी नायिका के नूपुरों में गिरती है! कितनी बारीक निगाह है! प्रेम की एक ही डोर के खिचाव में दो मनुष्यों की संसृति हो रही है। नायक के गले में जिस प्रेम की रागिनी बजती है, नायिका की गति में उसके

नूपुर प्रत्येक पदक्षेप के साथ मानों उसी रागिनी की ताल दे रहे हैं।

फिर महाकवि लिखते हैं—

"धरिया राखियो सोहागे आदरे
आमार मुखर पाखीटी—तोमार
प्रासाद-प्रांगणे (१)
मने करे सखि बांधिया राखियो
आमार हातेर राखीटी—तोमार
कनक—कङ्कणे।" (२)

अर्थ:—मेरे बहुत ज्यादा बकवास करने वाले इस पक्षी को सोहाग और आदर के साथ अपने प्रासाद के आंगन में पकड़ रखना (१)। ऐ सखि, मेरे हाथ की इस राखी को याद करके अपने सोने के कंगन के साथ लपेट लेना (२)।

"आमार लतार एकटी मुकुल
भूलिया तूलिया राखियो—तोमार
अलक-बन्धने। (१)
आमार स्मरण-शुभ-सिन्दूरे
एकटी बिन्दु आंकियो—तोमार
ललाट-चन्दने।" (२)

अर्थ :—मेरी लता से एक कली भ्रमवशात् तोड़ कर अपने जूड़े में खोंस लेना (१)। मेरी स्मृति का शुभ सिन्दूर लेकर, अपने ललाट के चन्दन के साथ, उसका भी एक बिन्दु बना लेना (२)।

अपनी लता से नायिका को भ्रमवशात् या एकाएक (भूलिया) एक कली तोड़ लेने के लिये अनुरोध रके 'भ्रमवशात्' या (भूलिया) शब्द से, कवि नायिका की भावुकता सिद्ध करता है। वह जानबूझ कर उससे कली इसलिये नहीं तुड़वाता कि उसकी नायिका उसी की चिन्ता में बेसुध हो रही है। अतएव संस्कारवश कली को तोड़ कर जूड़े में खोंस लेने के लिये अनुरोध करता है,—'भूलिया'—भूल कर, उसके उसी भाव की सूचना देता है। उसकी नायिका का चन्दन-बिन्दु शोभा दे रहा है, उस ललाट में अपनी स्मृति के सिन्दूर का एक बिन्दु और बना लेने की प्रार्थना; हृदय के किस कोमल परदे पर अंगुली रख कर बोल बिल्कुल साफ खोल देगी है, पाठक ध्यान दें।

'आमार मनेर मोहेर माधुरी
माखिया राखिया दियोगो—तोमार
अङ्ग सौरभे। (१)
आमार आकुल जीवन मरण
टूटिया लूटिया नियोगो—तोमार
अतुल गौरवे। (२)

अर्थ :—मेरे मन के मोह की माधुरी, ऐ सखि ! अपने अंग सौरभ के साथ तेल और फुलेल के साथ मिला कर रख देना (१)। मेरे व्याकुल इस जीवन और मरण को अपने अनुपम गौरव के साथ टूट कर लूट लेना (२)।

यहाँ हमें चौरपंचासिका वाले सुन्दर कवि की याद आ गई। इस तरह का एक भाव उसकी भी अंतिम प्रार्थना में हमने पढ़ा था। उसके दो चरण हमें याद हैं। वह अपनी नायिका को लक्ष्य करके कहता है—जब मैं मर जाऊँगा तब मेरे शरीर के पाचों तत्व तेरी सेवा करें ! यही ईश्वर से मेरी प्रार्थना है—

'त्वद्वापीषु पेयस्त्वदीय मुकुरे ज्योति स्त्वदीयांगणे।
व्योम्नि व्योम त्वदीय वर्त्मनि धरातलत्वात वृन्तेऽनिलः ॥

अर्थात् मेरे शरीर का जल भाग तेरी वापी में चला जाय, ज्योति का अंत तेरे आईने में जाय और तेरे आँगन के ऊपर के आकाश भाग, तू जहाँ चले तेरे उस रास्ते पर मृत्तिकांश और तेरे ताड़ के पंख में मेरे शरीर का अनिल भाग समा जाय। रवीन्द्रनाथ के नायक की प्रार्थना इसी तरह की है, परन्तु उसका ढंग दूसरा है।

एक और कविता देखिये। शीर्षक है 'बालिका वधू'। अपने देश की विवाही हुई छोटी-छोटी बालिकाओं की वधू के वेश में देख कर महाकवि कहते हैं :—

१— ओगो वर, ओगो बधू,
एइ जे नवीना बुद्धि विहीना
ए तव वालिका बधू। (१)
तोमार उदार बातास एकेला
कतो खेला निये कराय जे बेला,
तुमी काछ एले भावे तुमी तार
खेलिबार धन सुधू,
ओगो वर लोगो बधू। (२)

२— जानेना करिते साज—
केश बेश तार होले एकाकार
मने नाहीं माने लाज। (३)
दिने शतवार भांगिया गड़िया,
धूला दिये घर रचना करिया,
भावे मने मने साधिछे आपन
घर करनेर काज
जाने ना करिते लाज। (४)

३— कहे एरे गुरुजने
ओजे तोर पति, ओ तोर देवता,
भीत होये ताहा सुने। (५)
केमन करिया पूजिवे तोमाय
कोने मते ताहा भाविया ना पाय,
खेला फेली कभू मने पड़े तार—
'पालिवो पराण पणे
जाहा कहे गुरु जने।' (६)

४— वासर शयन परे
तोमार बाहुते बाधा रहिलेक
अचेतन घुम भरे। (७)
साड़ा नाही देय तोमार कथाय
कतो शुभक्षण वृथा चलि जाय,
जे हार ताहारे पराले से हार
कोथाय खसिया पड़े
वासक शयन परे। (८)

५— सुधू दुर्दिने झड़े
—दस दिक त्रास आंधारिया आसे
धरातले अम्बरे—
तखन नयने घूम नाई आर,
खेला धूला कोथा पड़े थाके नार,
तोमारे सबले रहे आंकड़िया

हिया काँपे थरे थरे—
दुःख दिनेर झड़े। (९)

६— मोरा मने करि भय
तोमार चरणे अबोध जनेर
अपराध पाछे हय। (१०)
तुमी आपनार मने मने हासो
एई देखितेई सूझी भाल बासो,
खेला घर द्वारे दांड़ाइया आड़े
किजे पाव परिचय,
मोरा मिछे करि भय। (११)

७— तुमी बुझियाछ मने,
एक दिन एर खेला घुचे जाबे
ओइ तव श्रीचरणे। (१२)
साजिया यतने तोमारि लागिया
वातायन तले रहिबे जागिया
शतयुग करि मानिबे तखन
क्षणेक अदर्शने,
तुमी बुझियाछ मने। (१३)

८— ओगो वर ओगो बधू,
जान जान तुमी—धूलाय बसया
ए बाला तोमार बधू। (१४)
रतन आसन तुमी एरी तरे
रेखेछो साजाये निर्जन घरे,
सोनार पात्रे भरिया रेखेछ
नन्दन-वन-मधू
ओगो वर ओगो बधू। (१५)

अर्थः—ओ वर—ऐ दुलहा; ओ बहु ! यह बुद्धिहीन नई बालिका तुम्हारी बहू है (१)। तुम्हारी देह से लग कर आई हुई उदार हवा इसे कितने खेलों में डाल कर देर करा देती है कि क्या कहूँ (यहाँ वर के उदार भावों के कारण बालिका वधू के खेल में कोई बाधा नहीं पड़ती—जितनी देर तक उसका जी

चाहता है, वह खेलती रहती है, यह भाव है) और जब तुम उसके पास आते हो तब वह तुम्हें भी अपने खेल की वस्तु समझती है (२)।

२—वह वेष-भूषा करना नहीं जानती, उसके गुथे हुए बालों के खुल जाने पर भी उसे लज्जा नहीं आती (३)। दिन भर में सौ बार धूल से वह घर बनाती और बिगाड़ती है, और फिर उसकी रचना करती है। वह मन-ही-मन सोचती है—यह मैं अपने घर और गृहस्थी का काम सम्हाल रही हूँ (४)।

३—उससे उसके पूजनीय लोग जब कहते हैं—'अरी, वे तेरे पति हैं—तेरे देवता हैं—तू इतना भी नहीं जानती', तब वह भय से सिकुड़ जाती और उनकी बातें सुनती है (५)। परन्तु किस तरह वह तुम्हारी पूजा करे, सोचने पर भी तो इसका कोई उपाय उसकी समझ में नहीं आता। कभी खेल छोड़ कर वह अपने मन में सोचती है—'पूज्य जनों के इस आदेश का मैं हृदय से पालन करूँगी (६)!'

४—वासर-सेज पर तुम्हारी बाहों में बँधी रहने पर भी वह मारे नींद के बेहोश पड़ी रहती है (७)। फिर वह तुम्हारी बातों का कोई जवाब नहीं देती, कितने ही शुभ मुहूर्त व्यर्थ बीत जाते हैं, जो हार तुमने उसे पहनाया वह न जाने सेज पर कहाँ खुल कर गिर जाता है (८)।

५— आँधी जब चलने लगती है—घोर दुर्दिन आ जाता है—जब धरातल और आकाश में त्रास छा जाता है—दसों दिशाएँ अन्धकार से ढक जाती हैं तब फिर उसकी आँख नहीं लगती, उसकी धूल और उसका खेल न जाने कहाँ पड़ा रहता है, बलपूर्वक वह तुम्हें पकड़े रहती है—सिमटती हुई तुमसे और भी सट जाती है; उस आँधी और दुर्दिन के समय उसका हृदय थर-थर कांपता रहता है (९)।

६—हम लोगों के चित्त में शंका होती है कि कहीं ऐसा न हो कि यह नादान तुम्हारे श्रीचरणों में कोई अपराध कर बैठे (१०)। तुम मन ही मन हँसते रहते हो, जान पड़ता है—तुम यही देखना पसन्द भी करते हो, भला उसके घरौंदे के पास आड़ में तुम क्यों खड़े रहते हो?—तुम्हें इससे कौन-सी जानकारी हो जाती है?—हम लोग व्यर्थ ही घबराते हैं—न? (११)।

७—तुमने अपने मन में समझ रखा है, एक दिन तुम्हारे श्रीचरणों पर उसका खेल समाप्त हो जायगा (१२)। तब वह तुम्हारे लिये बड़े यत्न से अपने को संवार कर झरोखे के पास जागती हुई बैठी रहेगी, तुम्हारे क्षण भर के

अदर्शन को शतयुगो के बराबर दीर्घ समझेगी, यह तुम समझे हुए हो (१३)।

ओ वर—ओ मित्र! तुम जानते हो, धूल में बैठी हुई यह बाला तुम्हारो ही वधू है (१४)। इसी के लिये निर्जन भवन में तुमने रत्नों से आसन सजा रखा है और सोने के पात्र में नन्दन वन की मधु भर घर रख दी है (१५)।

यहाँ हमें अच्छी तरह मालूम हो जाता है कि महाकवि रवीन्द्रनाथ किस तरह चित्र का अवलोकन करते हैं, किस हृदय के भीतर की बातों को समझते और शब्दों में उसकी यथार्थ मूर्ति उतार लेते हैं। बालिका वधू और उसके पति के देव-भावों को किस खूबी से चित्रित किया है—साद्यन्त स्वाभाविक और साद्यान्त मनोहर!

शृंगार की एक कविता महाकवि की और बड़ी सुन्दर है, नाम है 'रात्रे ओ प्रभाते'। इसमें युवक पति और युवती पत्नी के निश्छल प्रेम का प्रतिबिम्ब पड़ता है—

१— मधुयामिनीते ज्योत्स्नानिशीथे
कुंजकानने सुखे
फेनिलोच्छल यौवन सुरा
धरेछि तोमार मुखे। (१)
तुमी चेये मोर आँखीं परे
धीरे पात्र लयेछो करे
हेसे करियाछो पान चुम्बनभरा
सरस बिम्बाधरे
कलि मधुयामिनीते ज्योत्स्नानिशीथे
मधुर आवेश भरे। (२)
तब अवगुण्ठन खानि
आमी केड़े रेखेछिनु टानि
आमी केड़े रखेछिनु बक्षे तोमार
कमल-कोमल पाणी। (३)
भावे निमीलित तव नयन युगल
मुख नाहीं छिलो वाणी। (४)
आमी शिथिल करिया पाश
खुले दियोछिनु केशराश;

तव आनमित मुख खानि
सुखे थुयेछिनु बुके आनि,
तुमी सकल सोहाग सयेछिले, सखि
हासी-मुकुलित मुख,
काली मधुयामिनीते ज्योत्स्नानिशोथे
नवीन मिलन सुख । (५)
२—आजि निर्मलवाय शान्त ऊषाय
निर्जल नदी तीरे
स्नान अवसाने सुभ्रवसना
चलियाछो धीरे-धीरे । (६)
तुमी बाम करे लोये साजि
कतो तुलेछो पुष्प राजि
दूरे देवालय तले ऊषार रागिनी
बांसिते उठेछे बाजि
एई निर्मल वाय शान्त ऊषाय
जाह्वानी तीरे आजि । (७)
देवि तव सिंथी मूले लेखा
नव अरुण सिंदुर-रेखा
तव वाम बाहु बेड़ी शंख वलय
तरुण इन्दुलेखा (८)
एकि मङ्गलमय मूरति विकाशि
प्रभाते दितेछ देखा । (९)
राते प्रेयसीर रूप धरि
तुमी एसेछो प्राणश्वरि;
प्राते कखन देवीर वेशे
तुमी सुमुख उदिले हेसे;
आमी संभ्रम भरे रयेछि दांड़ाये
दूरे अवनत शिरे
आजि निर्मल वाय शान्त ऊषाय
निर्जन नदी तीरे । (१०)

अर्थ :—(१) ऐ प्रिये ! कल बसन्त की चाँदनी में, अर्ध रात के समय, उपवन के लता-कुंज के नीचे छलकती हुई फेनिल यौवन की सुरा सुख पूर्वक मैंने तुम्हारे होठों पर लगाई थी। (२) तुमने मेरी दृष्टि से अपनी दृष्टि मिला कर, धीरे-धीरे वह सुरापात्र ले लिया था, फिर हँस कर, मधुर आवेश से भर कर, कल वसन्त की चाँदनी अर्धरात में, चुम्बन भरे अपने सरस बिम्बाधरों से उसका पान कर गई थीं। (२) मैंने तुम्हारा घूंघट खोल डाला था और तुम्हारे कमल-कोमल हाथ को हृदय पर खींच कर रख लिया था (३)। उस समय तुम्हें भावावेश हो गया था, तुम्हारी दोनों आँखों की अधखुली हालत थी और न मुख में एक शब्द आ रहा था (४)। बन्धनों को शिथिल करके मैंने तुम्हारी केशराशि खोल दी थी, तुम्हारे झुके हुए मुख को सुख पूर्वक हृदय से लगा लिया था, सखी कल वसन्त की चाँदनी अर्ध रात में नवीन मिलन सुख के समय, मेरे द्वारा किये गये इन सब सुहागों को हँस-हँस कर तुमने सहन किया था—तुम्हारी हँसी की कली ज्यों की त्यों मुकुलित ही बनी रही—न मसली —न मसल जाने के दर्द में आह भरने के इरादे से उसने मुँह खोला (५)।

आज इस बहती हुई साफ हवा में, शान्त ऊषा के समय, निर्जन नदी के तट पर से स्नान समाप्त करके धीरे-धीरे चली आ रही हो (६)। बाएँ हाथ में साजी लेकर तुमने तो ये बहुत से फूल तोड़े, इस समय वह सुनो, दूर के उस देव-मंदिर में, वंशी में, ऊषा की रागिनी बज रही है और इस निर्मल वायु, शान्त ऊषा और निर्जन नदी में भी उसकी तान समाई हुई है (७)। हे देवि ! तुम्हारी मांग में बाल सूर्य सिंदूर की कैसी लाल रेखा खिंची हुई है। तुम्हारी बाईं बाँह को घेरे हुए शंख-बलय तरुण इन्दु-सा शोभायमान हो रहा है (८)। यह क्या ?—यह कैसी मङ्गल-मूर्ति का विकास मैं इस प्रभात के समय देख रहा हूँ (९) ! ऐ प्राणेश्वरी ! रात के समय तो प्रेयसी की मूर्ति से तुम मेरे पास आई थीं, सुबह को यह कब देवी की मूर्ति में हँस कर तुम्हारा उदय मेरे सम्मुख हुआ ? आज इस निर्मल वायु, शान्त ऊषा और निर्जन नदी-तट पर के समय में तुम्हारे सम्मान के भावों में सिर झुकाये हुए दूर खड़ा हुआ हूँ (१०)।

इस कविता में नारी-सौन्दर्य के दो चित्र दिखलाये गये हैं। इन दोनों का समय कविता के शीर्षक से सूचित हो जाता है। एक चित्र रात का है और दूसरा प्रभात का, इसीलिये इस कविता का नाम महाकवि ने 'रात्रे ओ प्रभाते' रखा है। दोनों चित्रों की विशेषता महाकवि की अमर लेखनी की चित्रण-कुशलता

को देख कर समझ में आ जाती है। वसन्त की चाँदनी रात में पति के हाथों से यौवन की छलकती हुई सुरा का प्याला पत्नी ले लेती है। यहाँ—

"तुमी चेये मोर आंखी परे
धीरे पात्र लयेछो करे।"—

महाकवि के इस मनोराज्य की जटिल किन्तु मोहिनी माया की ओर इतना स्पष्ट संकेत देख कर मन मुग्ध हो जाता है। सहधर्मिणी यौवन का प्याला एकाएक नहीं ले लेती, उसके लेने में एक विज्ञान है, एक वैसी ही बात है जिसके चित्रण में कवि सम्राट गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं—

बहुरि वदन-विधु अंचल ढाँकी।
पियतन चितै दृष्टि करि बाँकी॥
खंजन-मंजु तिरीछे नयननि।
निज पति तिनहिं कह्यो सिय सैननि

गोस्वामी जी की सीता में पति की ओर निहारने पर चंचलता आती है, और उस समय वही स्वाभाविक था—परन्तु रवीन्द्रनाथ की पति-सुहागिनी यहाँ स्थिर है, धीर है, प्रेम की अचल और गम्भीर मूर्ति है। वह पति के मुख की ओर ताकती है, पति की आखों की राह जो आग्रह टपक रहा था, समझ कर चुपचाप प्याला ले लेती है और फिर हँस कर जिन अधरों पर सैकड़ों चुम्बन मुद्रित हो रहे थे, उनसे उस यौवन सुरा का पान कर जाती है। यह वह अपनी इच्छा से नहीं करती, पति को संतुष्ट करने के लिये करती है। फिर रात्रि की केलि जब आरम्भ के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक पहुँचती—प्रभात होता, तब उस स्त्री की वह मूर्ति नही रह जाती। वह अपने पति की दृष्टि में देवी की मूर्ति सी आकर खड़ी होती है। सूर्य की पहली किरण पेड़ों के कोमल पल्लवों पर पड़ने नहीं पाती और उसका नहाना, फल तोड़ना सब समाप्त हो जाता है। उसका पति स्वयं कहता है—

"राते प्रेयसीर रूप धरि
तुमी एसेछो प्राणेश्वररी
प्राते कखन देवीर वेशे
तुमी समुखे उदिले हेसे।"

सुबह के समय वह हँस कर अपने पति के पास खड़ी होती है, परन्तु उसका पति उसके सम्मान के लिये सिर झुका लेता है। यहाँ महाकवि पवित्रता की

महिमा दिखा रहे हैं। यह वही स्त्री है, जो अपने स्वामी की आज्ञा मान कर रात को उसके हाथ से यौवन सुरा का प्याला लेकर बिना किसी प्रकार के संकोच के सुरा पी गयी थी और आज सुबह को यह वही स्त्री है, जिसे उसका पति सिर झुका कर सम्मानित कर रहा है। इस कविता में एक ही स्त्री के दो रूपों की वर्णनाएँ हैं, एक उसके रात के स्वरूप की—प्रेमिका के मानवीय सौन्दर्य की और दूसरी उसके सुबह के स्वरूप की—देवी-सौदर्य की। इन दोनों सौंदर्यों को विकसित कर दिखाने में रवीन्द्रनाथ को पूरी सफलता हुई है। इस पर हम ज्यादा कुछ इसलिये नहीं लिख सकते कि रवीन्द्र नाथ स्वयं अपनी कविता में विकसित रूप देते हैं। जहाँ कवि संक्षेप में वर्णन करते हैं वहाँ टीकाकारों की बन जाती है, वे उसके मनमाना अर्थ करने लगते हैं। रवीन्द्रनाथ का यह गुण समझिये या दोष, वे अपनी कविता में टीकाकारों के लिए 'किन्तु' या 'परन्तु' भी नहीं छोड़ जाते।

शृंगार पर महाकवि रवीन्द्रनाथ की एक और गजब की कविता देखिये नाम है 'ऊर्वशी'। इसमें वारांगणा का सौदर्य है। स्वाभाविकता वही जो उनकी हर एक कविता में बोलती है।

१—नहो माता, नहो कन्या, नहो वधू; सुन्दरी रूपसि,
हे नन्दनवासीनी ऊर्वशि (१)
गोष्ठे जब सन्ध्या नामे श्रान्त देह स्वर्णांचलटानी
तुमी कोनो गृह प्रान्ते नाहीं जाल सन्ध्या दीप खानी;
द्विधाय जड़ित पदे; कम्प्रवक्ष नम्र नेत्र पाते
स्मित हास्ये नाही चलो सलज्जित वासर शय्याते
स्तब्ध अर्द्ध राते। (२)
ऊषार उदय सम अनवगुणिता
तुमी अकुण्ठिता। (३)
२—वृन्तहीन पुष्पसम आपनाते आपनी विकाशि
कबे तुमी फुटिले ऊर्वशि। (४)
आदिम वसन्तप्राते, उठेछिले मन्थित सागरे;
डानहाते सुधापात्र, विषभाण्ड लये बाम करे;
तरंगित महासिन्धु मंत्रशान्त भुजगेर मतो
पड़ेछिलो पदप्रान्ते; उच्छ्वसित फणा लक्ष शत
करि अवनत। (५)

कुन्दशुभ्र नग्नकान्ति सुरेन्द्र वन्दिता,
तुमी अनिन्दिता। (६)

३—कोनो काले छिले नाकि मुकुलिका बालिका बयसी
हे अनन्त यौवन ऊर्वशि! (७)

आंधार पाथार तले कार घरे बसिया एकेला
माणिक मुकुता लये करेछिले शैंशवेर खेला,
मणि दीप दीप्त कक्षे लमुरे कल्लोल संगीते
अकलङ्क हास्यमुखे प्रवालपालंके घुमाइते
कार अङ्कटीते? (८)

जखनि जागिले विश्वे, यौवने गठिता
पूर्ण प्रस्फुटिता। (९)

४—युग युगान्तर होते तुमी सुधू विश्वेर प्रेयसी
हे अपूर्वशोभना ऊर्वशि ! (१०)

मुनिगण ध्यान भांगि देय पदे तपस्यार फूल,
तोमारि कटाक्ष घाते त्रिभुवन यौवन चंचल,
तोमार मदिर गन्ध अन्ध वायु बहे चारि भिते,
मधुमत्त भृङ्गसम मुग्ध कवि फिरे लुब्ध चिते,
उद्दाम संगीते। (११)

नूपुर गुंजरि जाव आकुल-अंचला
विद्युत्-चंचला। (१२)

५—सुर सभा तले जवे नृत्य करो पुलके उल्लसि
हे विलोल-हिल्लोल। ऊर्वशि!

छन्दे छन्द नाचि उठे सिन्धु माझे तरंगेर दल,
शय्या शीर्षे सिहरिया कांपि उठे धरार अंचल,
तव स्तनहार होते नभस्तले खसि पड़े तारा;
अकस्मात् पुरुषेर वक्षो माणे चित्त आत्महारा,
नाचे रक्त धारा। (१३)

दिगले मेखला तव टूटे आचम्बिते
अयि असम्वृते! (१४)

६—स्वर्गेर उदयाचले मूर्तिमती तुमी हे उषसी,
हे भुवन मोहिनी ऊर्वशि ! (१५)
जगतेर अश्रु धारे धौत तव तनुर तनिमा,
त्रिलोकेर हृदिरक्ते आंका तव चरण-शोणिमा,
मुक्तवेणी विवसने, विकसित विश्व-वासनार,
अरविन्द माझखाने पादपद्म रेखेछो तोमार
अति लघुभार (१६)
अखिल मानस स्वर्गे अनन्त रंगिणी,
हे स्वप्न संगिनि (१७)
७—ओइ सुनो दिशे दिशे तोमा लागा काँदिछे क्रन्दसी—
हे निष्ठुरा वधिरा ऊर्वशि (१८)
आदियुग पुरातन ए जगते फिरिबे कि आर,—
अतल अकूल होते सिक्त केशे उटिबे आबार ?
प्रथमसे तनुखानि देखा दिबे थम प्रभाते;
सर्वाङ्ग कांदिबे तव निखिलेर नयन-आघाते
वारिविन्हु पाते (१९)
अकस्मात् महाम्बुधि अपूर्व संगीते
रवे तरंगितें (२०)
८—फिरिबे ना फिरिबे ना—अस्त गेछे से गौरव राशि
अस्ताचलवासिनी ऊर्वशि ! (२१)
ताई आजि धरातले वसन्तेर आनन्द-उच्छ्वासे
कार चिरबिरहेर दीर्घश्वास निये बहे असे,
पूर्णिमा-निशीथे जवे दश दिके परिपूर्ण हासी
दूर स्मृति कोथा होते बाजाय व्याकुल करा वांसी
झरे अश्रु राशि। (२२)
तबू आशा जेगे थाके प्राणेर क्रन्दने
अयि अबन्धने ! (२३)

अर्थ—१ नन्दनवनवासिनी ओ रूपवती ऊर्वशी ! तुम न माता हो न कन्या हो और न वधू हो (१)। थकी दोहपर सोने का आंचल खींच कर सन्ध्या जब गौओं के चरागाह में उतरती है, तब ऐ ऊर्वशी ! तुम घर के कोने में शाम का

दीपक नहीं जलाती—न संकोचवश जकड़े हुए पैरों से, कांपते हुए कलेजे से, नीची निगाह करके, मन्द-मन्द हँसती हुई; अर्धरात के सन्नाटे में प्रिय की सेज की ओर लज्जित भाव से जाती हो (२)। तुम्हारा तो घूंघट सदा उसी तरह खुला रहता है जैसे ऊषा का उदय, और तुम सदा ही अकुण्ठित रहती हो (३)।

२—बिना वृन्त के फूल की तरह अपने ही में अपने को विकसित करके, ऐ ऊर्वशी ! तुम कब खिली (४) ? आदिम वसन्त के प्रभात काल में मथे हुए सागर से तुम निकली थीं, अपने दाहिने हाथ में सुधापात्र और बाएँ में विष का घट ले कर; तरंगित महासिन्धु मन्त्रमुग्ध भुजङ्ग की तरह अपने लाखों उच्छ्वासित फनों को झुका कर तुम्हारे श्रीचरणों के एक किनारे पर पड़ा हुआ था (५) कुन्द के समान शुभ्र तुम्हारी नग्न कान्ति की चाह सुरपति इन्द्र को भी रहती है, तुम्हारी भला कौन निन्दा कर सकता है (६) ?

३—ऐ उर्वशी ! तुम्हारे इस यौवन का क्या कभी अन्त भी होता है ?—न, अच्छा माना कि तुम्हारा यौवन अनन्त है, परन्तु यह तो बताओ, कली की तरह कभी तुम बालिका भी थीं या नहीं ? (७) अतल के अन्धकार में तुम किस के यहाँ अकेली बैठी हुई मणियों और मुक्ताओं को ले कर अपने शैशव का खेल करती थीं ?—मणियों के दीपों से प्रदीप्त भवन में समुद्र के कल्लोल के गीत सुन कर निष्कलंक मुख से हँसती हुई प्रवालों के पलंग पर तुम किसके अंक में सोती थीं (८) ? इस विश्व में जब तुम्हारी आंखें खुलीं, तब तुम्हारा यौवन गठित हो चुका था—तुम बिल्कुल खिल गई थीं (९)।

४—अपूर्व शोभामयी, ऐ ऊर्वशी ! युग-युगान्तर से तुम इस विश्व की प्रेयसी हो, बस (१०)। ऋषी और महर्षि ध्यान छोड़ कर अपनी तपस्या का फल तुम्हारे श्रीचरणों को अर्पित कर देते हैं, तुम्हारे कटाक्ष की चोट खा कर यौवन के प्रभाव से तीनों लोक चंचल हो उठते हैं। तुम्हारी शराब-जैसी नशीली सुगन्ध को अन्ध वायु चारों ओर ढोये लिये जा रही है और मधु पी कर मस्त हुए भौरों की तरह कवि तुम पर मुग्ध और लुब्धचित्त होकर उद्दाम संगीत गाते हुए घूमते हैं (११)। तुम अपने नूपुर बजाती हुई, अंचल को विकल करके, बिजली की तरह चंचल गति से कहीं चली जाती हो (१२)।

५—देह में लोल हिलोरों का नृत्य दिखाने वाली ऐ ऊर्वशी ! जब तुम देवताओं की सभा में पुलकित और हुलसित हो कर नृत्य करती हो, तब तुम्हारे

छन्द-छन्द पर सिन्धु में तरंगें नाच उठती हैं,—शस्य के शीर्षों में (बालियों में) —धरा का अंचल काँप उठता है,—तुम्हारे उन्नत उरोजों पर शोभा देने वाले हार से छूट कर आकाश में तारे टूट गिरते हैं,—एकाएक पुरुषों के हृदय में चित्त अपने को भूल जाता है,—नस-नस में खून की धारा बह चलती है ! (१३) । ओ अपने को न सँभाल सकने वाली ! एकाएक दिगन्त में तेरी मेखला टूट गिरती है (१४) ।

६—ऐ भुवनमोहिनी ऊर्वशी ! स्वर्ग के उदयाचल में तुम मूर्तिमति ऊषा हो (१५) । तुम्हारे देह की तनुता (नजाकत) संसार के आँसुओं की सरिता के तट पर धोई गई है, तुम्हारे तलवे की ललाई तीनों लोक के हृदय-रक्त से रंजित की गई है, बालों को खोल कर खड़ी हुई ओ विवस्त्र ऊर्वशी ! विश्ववासना के विकसित अरविन्द पर तुम अपने अति लघुभार चरणों को रखे हुए हो (१६) । ऐ मेरी स्वप्न की संगिनी ! सम्पूर्ण संसार के मानस स्वर्ग में तुम अनन्त रंग दिखला रही हो (१७) ।

७—ऐ निष्ठुर वधिर ऊर्वशी ! वह सुनो, तुम्हारे लिये चारों ओर से रोदन उठ रहा है (१८) । पुरातन आदि युग क्या फिर इस संसार में लौटेगा ?— अछोर अतल से ऐ सिक्तकेशिनी क्या तू फिर उमड़ेगी ? प्रथम प्रभात में वह थम तनु क्या देखने को फिर मिलेगा ?—जब निखिल के कटाक्ष-प्रहार से और गिरते हुए वारि-विन्दुओं के आघात से तुम्हारा सर्वाङ्ग रोता रहेगा (१९) । महासागर एक अपूर्व संगीत के साथ अकस्मात् तरगित होता रहेगा (२०) ।

८—ऐ अस्ताचल-वासिनी ऊर्वशी ! उस गौरव-राशि का अस्त हो गया है, —अब वह न लौटेगा (२१) । इसीलिये आज पृथ्वी में वसन्त के आनन्दोच्छ्-वास के साथ न जाने किसके चिरविरह का दीर्घ श्वास बहा चला आ रहा है, पूर्णिमा की रात्रि में जब दशों दिशाएँ हास्य से पूर्ण हो जाती हैं, तब न जाने दूरस्मृति कहाँ से व्याकुल कर देने वाली बंशी बजाती रहती है, आँसू झरते रहते हैं (२२) । ओ बन्धन-मुक्त ऊर्वशी, प्राणों के क्रन्दन में भी आशा जागती रहती है (२३) ।

'ऊर्वशी' रवीन्द्रनाथ की एक अनुपम सृष्टि है । इसमें शृंगार को महाकवि की लेखनी ने पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है । रवीन्द्रनाथ के समालोचक टम-सन साहब समालोचना के लिये जिन अजित बाबू की जगह-जगह तारीफ करते हैं, अजित बाबू ने खुद लिखा है—'ऊर्वशी में सौदर्य बोध का जैसा परिपूर्ण

प्रकाश है वैसा यूरोप के साहित्य भर में मिलना मुश्किल है।' अजित बाबू की राय, सम्भव है कि सच हो। परन्तु दुःख है, उन्होने कविता के गुणों का विश्लेषण करके उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करने की चेष्टा नहीं की, न एक ही ढंग की यूरोपीय कविताओं का उद्धरण करके तुलनात्मक विचार करने का कष्ट उठाया। कुछ भी हो ऊर्वशी के चित्र-चित्रण मे महाकवि की एक अद्भुत शक्ति लक्षित होती है, इसमें सन्देह नहीं। देव-सौदर्य में देवभावों का विकास कर दिखाना बहुत सीधा है। ऐसा तो प्रायः सभी कवि कर सकते हैं। हिन्दी में शुद्ध श्रृंगार और स्वकीया के वर्णन में सफे-के-सफे रंग डाले गये हैं, यही बात संस्कृत में भी है। परन्तु जहाँ परकीया नायिकाओ या वारांगणाओं का वर्णन आया है, वहाँ तो कवि नायिकाओं से बढ़ कर अश्लोलता करते हुए पाये जाते हैं—'दे मागदे दे मागादे करैं रति में तगादे है', ये सब उनके भावों के जीते-जागते चित्र हैं। यह हम मानते है कि मनुष्य स्वभाव का यह भी एक चित्र है, अश्लील भले ही हो, पर झूठ नहीं; अतएव साहित्य में इसे भी स्थान मिलना चाहिये। यह बात और है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि अश्लील में शील और कुरूप में सौंदर्य, विकार में निर्विकार की व्यंजना और मनोहर होती है और वह भी सत्य है, अतएव वह अधिक हृदय ग्राह्य है। कविकुल चूड़ामणि कालीदास ने, कविराज राजि मुकुटालंकार हीरःकण श्रीमान श्रीहर्ष ने और इस तरह अनेक संस्कृत के महारथि कवियों ने कुल-कामनियों के अन्तःपुर की लीलाएँ लिखते हुए अश्लीलता को हृदय तक पहुँचा दिया है,—'यदि पीनस्तनीं पुनरहं पश्यामि, मन्मथशरानलपीड़ितानि गात्राणि सम्प्रति करोमि सुशीतलानि'—बेचारे अपने हृदय की बात 'बेलाग' कह डालते हैं,—फिर उनके वंशज हिन्दी वाले—अपनी पैत्रिक सम्पत्ति का अधिकार क्यों छोड़ देते?—'स्वधर्मे मरणं श्रेयः।' अस्तु।

'ऊर्वशी' के आरम्भ में वैश्या-सौन्दर्य पर बड़ी सावधानी से रवीन्द्रनाथ की तूलिका सचालित होती है। उस नन्दन-वासिनी में मातृ-भाव पाते है, न कन्या भाव, न वधूभाव। वह कुलवधू की तरह लजाती हुई अर्धरात के सन्नाटे में अपने प्रियतम को सेज के पास नहीं जाती, वह घूँघट से कभी मुँह नही मूँदती; ऊषा के उदय की तरह उसका मुँह खुला रहता है; उसमें कुण्ठा नही है—किसी का दबाव नहीं है। महाकवि की उपमा "ऊषा का उदय" देखने लायक है। उपमा चोट कर जाती है। इतनी जंची तुली हुई है कि जान पड़ता है इससे बढ़ कर और कोई उपमा यहाँ के लिये उपयोग्य नही। ऊषा

स्वर्णाभा है, मधुर है, स्निग्ध है, मनोहर है और सबकी दृष्टि में पड़ती है, उसमें अवगुण्ठन, घूँघट या परदा नहीं, यही सब बातें ऊर्वशी में भी हैं, वह स्वर्णवर्ण है, मनोरमा है और सबके लिये समभाव से मुक्तमुखी है।

ऊर्वशी के हर एक पदबन्ध में, उसके एक-एक भाव पर दृष्टि डाली गई है और महाकवि की कविता-किरण उनके प्रत्येक विचार में ज्योति की रेखा खींच देती है। रम्भा जिस तरह चौदह रत्नों के साथ समुद्र से निकली थी, उसी ऊर्वशी की उत्पत्ति-कल्पना भी महाकवि सिन्धु के विशाल गर्भ से करते हैं। उसे अनन्त यौवन कह कर जब उसी से उसके बाल्यकी बात पूछते हैं, मुकुलिता बालिका के घर की, उसकी क्रीड़ाओं की, प्रवाल-पलंग पर सोने की बात पूछते हैं, तब कल्पना अपनी मोहिनी में डाल कर क्षण भर में मुग्ध कर लेती है, और पूर्ण यौवन में गठित करके उस सोती हुई को एकाएक संसार की आश्चर्य भरी दृष्टि के सामने ला खड़ा करके तो गजब कर देते हैं। जहाँ लुब्धकवि, मधु पीकर मतवाले हुए भौरों की तरह गाते हुए उसके पीछे-पीछे चलते हैं, वहाँ उसका नूपुरों को बजा कर हिलोरों से अंचल को विकल कर के बिजली की गति से गायब हो जाना वास्तव में वेश्या-स्वभाव का एक बहुत ही सुन्दर दृश्य दिखा जाता है। देवसभा के नृत्य का दृश्य भी बहुत ही चित्ता-कर्षक है। इस सौन्दर्य का अन्त दुखान्त है; यहाँ कला का उत्कृष्ट परिचय मिलता है। वेश्याओं के सौन्दर्य का अन्त एक तो यों भी दुःखमय होता है, परन्तु यहाँ महाकवि एक दूसरी कल्पना से उसे दुःखमय कर देते हैं। वह दुःख ऊर्वशी के लिये नहीं है कवि के लिये है। इस सौन्दर्य को वे पुरातन युग की कल्पना में डुबो देते हैं। उस गौरव-राशि के अस्त हो जाने की याद कवि को रुला देती है। फिर वन्सत की हवा में विरह की साँस बह चलती है और हृदय के रोदन में एक आशा को जगा कर मुक्त ऊर्वशी का सौन्दर्य समाप्त हो जाता है। ऊर्वशी की सुन्दरता की इतनी मधुर वर्णना भी कवि को प्रसन्न नहीं कर सकती,—वे वह युग चाहते हैं—सत्यं शिवं सुन्दरम् वाला युग; इसीलिये कविता के वेश्या-सौन्दर्य में भी सत्यं शिवं सुन्दरम् की अमर छाप लग गई है और नश्वर में अविनश्वर ज्योति आ गई है।

●

संगीत-काव्य

किसी कवि में एक साथ बहुत से गुण नहीं मिलते । कितने ही शब्द-शिल्पी ऐसे देखे गये हैं जिनमें संगीत का नाममात्र भी न था । शब्दों के माया-जाल की रचना करते हुए ही उन्होंने अपना सम्पूर्ण समय और सारी एकाग्रता खर्च कर दी है । जो लोग अपनी या किसी दूसरे की कविताएँ सस्वर पढ़ लेते हैं, मुशायरे में अपना सुकोमल स्वर सुना कर श्रोताओं को मुग्ध कर लेते हैं, वे सुकण्ठ चाहे भले ही हों पर वे संगीत-मर्मज्ञ नहीं । जिस तरह अच्छी कविता लिखने के लिये पिंगल और अलंकार-शास्त्र का जानना आवश्यक है, उसी तरह संगीत-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने या सुगायक बनने के लिये राग-रागनियों के स्वरूप, उनके स्वरों की पहचान, समय का निर्देश, ताल और मात्राओं की सूझ और और आवश्यक सूक्ष्मातिसूक्ष्म और और विषयों का अधिकार प्राप्त करना भी बहुत ही जरूरी है । अतएव कहना चाहिये, कविता की तरह संगीत की भी एक अलग शाखा है और उसके पठन और अनुशीलन में कदाचित् कविता की अपेक्षा अधिक समय लग जाता है । और यही कारण अक्सर कवियों को संगीत शास्त्र के अथाह सागर में आत्मसमर्पण करते हुए हतोत्साह कर देता है ।

हिन्दी-साहित्य में जिन प्रसिद्ध कवियों ने घनाक्षरी, सवैया, दोहा, सोरठा और चौपाई आदि अनेकानेक छन्दों की सृष्टि की है, बहुत संभव है, सभा-स्थल में वे सस्वर उन्हें गाते भी रहे हों, और चूँकि आजकल मुशायरे में अक्सर

कविता गा कर पढ़ने का रिवाज प्रचलित है,—साधारण से ले कर अच्छे से अच्छे कवि कविता को गा कर पढ़ते हैं, अतएव वे प्राचीन कवि भी जिनसे उत्तराधिकार के रूप में कविता को गा कर पढ़ना हमें प्राप्त हुआ है और हम अब भी उसकी मर्यादा को पूर्ववत् अचल और अखण्डनीय बनाये हुए हैं, कविता का पाठ गा कर ही करते रहे होंगे। परन्तु यह मानी हुई बात है कि कविता एक और कला है और संगीत एक और। अतएव यह निःसन्देह है कि अच्छी कविता लिखने वाले किसी कवि के लिए अच्छा गा लेना कोई ईश्वरीय नियम नहीं। तात्पर्य यह कि कवि हो कर, साथ ही कोई गवैया भी नहीं बन सकता; परन्तु कविता की तरह, सीख कर गाने की बात और है। यहाँ मैं यह सिद्ध नहीं कर रहा हूँ कि आजकल के मुशायरे ब्रह्मभोज के कराह मलते समय की किरकिरी आवाज को मात करने वाले कविता गायक कवियों की तरह पिछले जमाने में सभी कवि में थे, नहीं सूरदास जैसे सुगायक सिद्ध महाकवि भी हिन्दी में हो गये हैं। यहाँ इस कथन में मेरा लक्ष्य यह है कि शब्द-शिल्पी संगीत-शिल्पियों की नकल न करें तो बहुत अच्छा हो। कविता भावात्मक शब्दों की ध्वनि है, अतएव उसकी अर्थ-व्यंजना के लिये भावपूर्वक साधारणतया पढ़ना भी ठीक है, किसी अच्छी कविता को रागिनी में भर कर स्वर में माजने की चेष्टा करके उसके सौन्दर्य को बिगाड़ देना अच्छी बात नही।

ठीक यही बात गाने वाले के लिये भी है! उसके पास स्वर है, पर शब्द नहीं। उसके स्वर की धारा बड़ी ही साफ है, परन्तु जिन शब्द-वीचियों की सहायता से उसकी क्रीड़ा लक्षित हो रही है, उनमें वैसी एकता, सौन्दर्य-शृंखला और चमक बिल्कुल नहीं है। कर्मनासा के जल की तरह उन्हें देख कर लोग उनसे तृष्णा-निवृत्ति की आशा छोड़ देते हैं—उनमें वैसी कोई शक्ति नहीं जो प्राणों में पैठ कर उन्हें शीतल कर सके। हम देखते हैं, गवैयों के रचे हुए संगीत के जितने भी काव्य हैं, उनका अधिकांश उद्देश्य किसी तरह उनसे निकाला गया है—अलावा इसके कविता की दृष्टि से उनमें कोई दम नहीं।

हिन्दी में सूर, [illegible] तुलसी और मीराबाई आदि बहुत से महाकवि ऐसे हो गये हैं, जिन्हें हम समस्वर से शब्द-शिल्पी भी कहते हैं और सुगायक भी; मीरा और सूर के लिये तो केवल यह कहना कि अच्छा गाते थे, अपराध होगा, ये संगीत-सिद्ध थे,—संगीत की उस कोमलता तक पहुँचे हुए थे जहाँ परम कोमल सच्चिदानन्द भगवान श्रीकृष्ण की स्थिति है।

इस बीसवीं सदी के लिये बंग-साहित्य में जिस तरह के संगीत-मर्मज्ञ की आवश्यकता थी, महाकवि रवीन्द्रनाथ के द्वारा वह पूरी हो गई। रवीन्द्रनाथ जितने ही बड़े शब्द-शिल्पी हैं उतने ही बड़े संगीत-विशारद भी हैं; बल्कि उनके लिये यह कहना चाहिये कि संसार में श्रेष्ठ स्थान उन्हें जिस पुस्तक के द्वारा प्राप्त हुआ है, वह संगीत की ही है—"गीताञ्जली" में भाव भाषा और स्वर के समावेश से जिस स्वर्गीय छटा का उद्बोध होता है, महाकवि रवीन्द्रनाथ ने बड़ी निपुणता से उसे ससार के सामने ला रखा है।

एक बार स्वर्गीय डी० एल० राय० महाशय के सुपुत्र बाबू दिलीपकुमार राय ने महात्मा गाँधी से मिल कर कला और सगीत के सम्बन्ध में उनसे कुछ प्रश्न किये थे; महात्मा जी ने कहा; 'मैं उस कला और उस सगीत का आदर करता हूँ जो कुछ चुने हुए आदमियों के लिये न होकर सर्वसाधारण के लिये हो।' इस पर दिलीप बाबू का उत्तर बड़ा ही सुन्दर हुआ था। उन्होने कहा, 'इस तरह कला को उत्कर्ष प्राप्त करने की जगह कहाँ रह जाती है ? जो सर्वसाधारण की है, वह अवश्य ही असाधारण नहीं हो सकती और जिसके असाधारणता नही है, वह आदर्श भी नहीं है; और यदि आदर्श रहा तो साधारण जनो के उन्नत होने का लक्ष्य भी नहीं रह जाता; साधारण मनुष्यों की उन्नति का आदश क न रहने पर द्वार ही रक जाता है।'

दिलीप बाबू का भाव हृदय से स्वागत करन योग्य है। पूर्व और पश्चिम के पर्यटन से सगीत के सम्बन्ध में दिलीप बाबू का ज्ञान कितना बढ़ा-चढ़ा है, यह उनके लेखों से मालूम हो जाता है। एक जगह उन्होंने हिन्दी-सगीत के साथ बंगला संगीत की तुलना करते हुए लिखा है—'हिन्दी-संगीत बंगला-सगीत से बहुत ऊँचा है, बगालियों को अभी बहुत काल तक हिन्दीभाषी गवैयों के चरणों पर बैठ कर शिक्षा ग्रहण करनी होगी।' दिलीप बाबू के वाक्य को अपनी स्मृति से मैं उद्धृत कर रहा हूँ, इस समय उनके लेख मेरे पास नहीं है; इन वाक्यों में शब्दो की एकता चाहे न हो पर उनके भाव ऐसे ही हैं, इस पर मुझे दृढ़ विश्वास है। दिलीप बाबू के ये शब्द बहुत ही जँचे-तुले और सहृदयता के सूचक हैं, इनसे दिलीप बाबू की निष्पक्ष समालोचना का भी पता चल जाता है। एक दिन आपस मे बातचीत हो रही थी कि यही राय 'आमार विज्ञान' के लेखक पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा ने जाहिर की। हम यह भी देखते हैं कि अच्छे बंगाली गवैया ध्रुवपद-धम्मार अक्सर हिन्दी में गाते हैं, फिर उनका

अपनी भाषा के संगीत का प्रेम एक तरह छूट जाता है।

हिन्दी संगीत की योग्यता पर अब इस समय अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु यहाँ एक बात बिना कहे नहीं रहा जाता। पश्चिम के संगीतज्ञों को भारत के संगीत से अभी तक विशेष प्रेम नहीं हुआ है। भारत के कुछ नामी उस्ताद योरप हो आये हैं, परन्तु उनके वाद्य का प्रभाव अभी वहाँ उतना नहीं पड़ा जितने की आशा की जाती है। प्रभाव न पड़ने के मुख्य दो कारण हैं। पहला यह कि भारत के रागों और रागिनियों को वे समझ नहीं सकते,— इनसे उनके हृदय में न तो किसी भाव का उद्रेक होता है, न कोई रस संचार; दूसरी बात यह है—तान मुरकी में वहाँ वालों को इतना अधिक स्त्रीत्व दिखलाई पड़ता है कि वे वीर जातियों के वंशज इसका सहन नहीं कर सकते; यहाँ की नृत्यकला को भी वे लोग इसी दृष्टि से देखते हैं, अन्यथा यहाँ के नृत्य और संगीत से अपने साहित्य में कुछ लेने की चेष्टा करते। संगीत की समालोचना में योरप वाले वास्तव में भूल करते हैं, और कुछ अंशों में हमारी भी भूल है। हमारे यहाँ भैरव, मालकोस, दीपक, आदि रागों के जैसे स्वरूप चित्रित किये गये हैं, उन्हें देख कर कोई यह नहीं कह सकेगा कि इनमें स्त्रीत्व है, भैरव में तो पुरुषत्व का विकास इतना अधिक करके दिखाया गया है कि संसार मे उस तरह का मस्त और दुनियाँ को तुच्छ समझने वाला पुरुष संसार की किसी भी जाति में न रहा होगा। भैरव-राग के अलापने पर वैसा ही भाव हृदय में पैदा हो जाता है। हमारे यहाँ, ध्रुपद-धम्मार आदि तालों में स्त्रीत्व का तो कह निशान भी नही है। इनमें गाते समय गवैये को हमेशा ध्यान रखना पड़ता हीं कि कहीं ध्रुपद गाते हुए स्वर में कम्पन न हो जाय—यानी आवाज सदा भरी हुई और सीधी निकलती रहे, उसके काँपने से स्त्रीत्व के आ जाने का भय है। जो लोग इसका निर्वाह नहीं कर सकते, वे चूकते हैं। हमारे यहाँ मृदङ्ग के बोल भी पुरुषत्व के उद्दीपक हैं। जबसे राग-रागिनियों की खिचड़ी पकी, गजल-युग आया, तब से संगीत में स्त्रीत्व का प्रभाव बढ़ा है।

शब्द-शिल्पी हो कर संगीत को कला के शीर्षस्थान तक ले जाने वाले, स्वर की लड़ी में भाव भरे उत्तमोत्तम शब्द पिरोने वाले, हर एक रस और हर एक रागिनी में कविता और संगीत कला के दो पृथक चित्रों में समान तूलिका संचालन करने वाले—बराबर रंग चढ़ाने वाले, एक ओर शब्दों द्वारा—दूसरी ओर रागिनी की खुली मूर्ति खींच कर,—आवश्यकतानुसार शृंगार-करुणा-

वीर-शान्त और बरवा मालकोस—छाया आदि रसों और राग-रागिनियों का दिव्य संयोग दिखाने वाले, योरप को भारतीय कविता और भारतीय संगीत के उद्दाम छन्दों और कोमल-कठोर भावों से मुग्ध और चकित कर देने वाले महाकवि रवीन्द्रनाथ प्रथम भारतीय हैं।

कला को आदर्श स्थान पर प्रतिष्ठित करने के लिये किस तरह साधारण जनों की सीमा को पार कर जाना पड़ता है, किस तरह से अनमोल शब्द-शृंङ्खलित भाव के साथ स्वर की लड़ी में पिरोये जाते हैं, आगे चल कर विश्व-कवि के कुछ उद्धृत संगीतों में देखिये :—

(संगीत—१)

"आहा जागि पोहाल बिभावरी
क्लान्त नयन तब सुन्दरी ॥१॥
म्लान प्रदीप ऊषानिल चंचल,
पाण्डुर शशधर गत अस्ताचल,
मुछी आँखींजल, चलो सखी चलो,
अंगे नीलाञ्चल संवरी ॥२॥
शरत प्रभात-निरामय निर्मल,
शान्त समीरे कोमल परिमल,
निर्जन वनतल शिशिर-सुशीतल,
पुलकाकुल तरुवल्लरी ॥३॥
बिरह-शये केलि मलिन मालिका,
एसो नव भुवने एसो गो बालिका,
गांथी लह अंचले नव शेफालिका,
अलके नवीन फूलमंजरी ॥४॥

अर्थ—"अहा! जग कर सारी रात तुमने बिता दी, सुन्दरी! तुम्हारी आँखों में थकन आ गई है! ॥१॥ दिये की ज्योति मलिन पड़ गई है, चाँद मुरझा के अस्ताचल में धँस गया है; तुम अपने आँसू पोंछो,—चलो—सखी! —नीलाम्बरी साड़ी के अंचल-प्रान्त को देह में संभाल लो! ॥२॥ (इस समय) शरत का प्रभात (कैसा) स्वास्थ्यकर और निर्मल हो रहा है। शान्त भाव से ढ़ुरते हुए समीर के साथ कोमल परिमल भी आ रहा है, निर्जन वन का तल

भाग ओस से धुल कर शीतल हो गया है और द्रुमलताएँ पुलक की अतिशयता से व्याकुल हो रही हैं ! ॥३॥ विरह सेज पर अपनी मलिन माला छोड़ कर अयि बालिका, इस नवीन संसार में आओ ! शेफालिका (हरसिंगार) फूलों की नई माला अंचल मे गूंथ लो ! बालों में फूलो की नई मंजरी खोस लो ! ॥५॥"

विश्वकवि के इस संगीत का प्लाट (नक्शा) यह है :—पहले कवि ने आगत यौवना किसी कामिनी के विरह की कल्पना की है, उसे सारी रात प्रियतम की प्रतीक्षा करनी पड़ी है। सेज पर प्रियतम की प्रतीक्षा में—उसे भोर हो गया—आँखों में जागरण की लालिमा और क्लान्ति आ गई है। नायिका की इस दशा को कवि-हृदय—अधिक देर तक नहीं देख सका—यहीं से उसके लिये कवि की सहानुभूति चित्रण-तूलिका के सहारे उतर कर एक अपूर्व ढंग से उसे संयोग का समाचार सुनाती है—सहानुभूति से लेकर समाचार के अन्त तक महाकवि की चित्रण-कुशलता गजब करती है—हृदय को बरबस अपनी ओर खीच लेती है। इस गीत-काव्य का श्रीगणेश करते हुए महाकवि अपने तुले हुए शब्दो में नायिका के नयनो के साथ समवेदना प्रकट करने के लिये बढ़ कर जब कहते हैं —

"आहा जागि पोहाल विभावरी
क्लान्त नयन तब सुन्दरी"

तब ये शब्द उनके रोम-रोम से विरहिणी के लिये समवेदना सूचित कर देते है—नायिका के विरह व्याकुल हताश भाव को उनकी सहृदयता एक क्षण भी नहीं देख सकती। महाकवि के उद्धृत पूर्वोक्त वाक्य में, उनकी अथाह सहानुभूति के साथ एक भाव जो और मिला हुआ है, वह है नायिका की उसी अवस्था से गुजर कर महाकवि का व्यक्तिगत अभिज्ञता का संचय—मानो कवि भी यह विरह का दुःख भोग चुका है, और चूंकि उसे इस दुःख का यथार्थ अनुभव है, इसलिये नायिका में अनुभवजन्य स्वजातीव भाव का आवेश देख उसके (कवि के) हृदय से एक वह अपनापन नायिका की ओर बढ़ रहा है जिसे सर्वथा हम स्वजातीय कह सकते हैं, और इसलिये इस सहानुभूति में एक खास सौंदर्य आ गया है—दोनों हृदय मानो एक हो रहे हैं, फर्क इतना ही है कि एक ओर जागरण जनित दुःख—बाट जोह कर थकी हुई छल छलाई आँखें, और दूसरी ओर है एक सच्चा सहृदय—मर्मज्ञ—अकारण प्यार करने वाला। सहृदय रवीन्द्रनाथ यहीं से नायिका को मिलन-भूमि की ओर ले चलते हैं, वे

विरह के वर्णन में इतनी हाय-हाय नहीं मचाते कि पाठक भी ऊब जायँ; उधर, सहानुभूति के कोरे शब्दों से ही नायिका के प्रति सहृदयता प्रकट करके कवि अपनी मित्रता का उतना बड़ा परिचय हरगिज न दे सकते जितना बड़ा उन्होंने नायिका को मिलन-मंदिर की ओर बढ़ा कर दिया है। महाकवि नायिका से कहते हैं—

"म्लान प्रदीप उषानिल अंचल,
पाण्डुर शशधर गत अस्ताचल,
मुछी आंखींजल, चलो सखि चलो,
अंगे नीलांचल सँवरी।"—

प्रथम दो पंक्तियों में प्रकृति का चित्र है, फलकी पंक्तियों में नायिका के लिये धैर्य और साथ-साथ आशा। "अंगे नीलांचल सँवरी" इस पंक्ति में विशृङ्खल भाव से—ढके हुए अङ्गों से खुल कर इधर-उधर पड़े हुए नीलाम्बरी साड़ी अचल-भाग को संभाल कर निकलने के लिये कह कर कवि नायिका को प्रियतम से मिला देने की आशा दिलाता है। वस्त्र संभालने की ओर इशारा करके महाकवि ने नायिका विरह-भावना की ओर भी इशारा किया है; इस चित्र में बहुत मामूली बात भी कवि के ध्यान से नहीं हटने पाई। विरह की अवस्था में वस्त्र का खुल जाना बहुत ही स्वाभाविक है, और मिलने के पूर्व उसके संभालने की ओर इंगित करना उतना ही कवित्वपूर्ण। "चलो सखि चलो" इस वाक्य में रवीन्द्रनाथ मानो नायिका की सखी बन जाते हैं; यहाँ जब एक ओर क्षोभ अभिमान, विरह और निराशा नजर आती है और दूसरी ओर —धैर्य, प्रेम, सहृदयता और आशा का आश्वासन मिलता है, तब हृदय में कविता की कैसी दो दिव्य मूर्तियाँ एकाएक खड़ी हो जाती हैं! वर्णना शक्ति की सीमा से बाहर है। आगे चल कर महाकवि प्रकृति में स्वागत का चित्र दिखलाते हैं—"पुलकाकुल तरु वल्लरी" कह कर तरु और लताओं में प्रभात समय का प्राकृतिक पुलक दिखलाते हुए, कल्पना के द्वारा नायक के आ जाने का पुलक भी भर देते हैं। यहाँ प्रकृति के सत्य से कल्पना के सत्य का मेल है, प्रकृति के पुलक में नायक के आगमन की पुलक है।

"विरह-शयने फेलि मलिन मालिका,
एसो नव भूवने एसो गो बालिका।"

यहाँ विरह शय्या पर कल की गूँथी हुई मालिन माला को छोड़ कर

बालिका (नवयौवना तरुणी) को नवीन संसार में बुलाने का अर्थ यही है कि, महाकवि उसके संयोग की सूचना देते हैं। उनका यह भाव और साफ हो जाता है जब वे कहते हैं—

"गांथि लह अंचले नव शेफालिका
अलके नवीन फूल मंजरी।"—

मलिन मालिका को छोड़, अंचल में नई शेफालिका की माला गूँथ लेने और बालों में पुष्प-मंजरी के खोंसने का इशारा सूचित करता है संयोग का समय अब आ गया। अपनी दुःखिनी सखी को उसके प्रियतम के पास महाकवि इस तरह कवित्व-पूर्ण ढंग से ले चलते हैं।

(संगीत—२)

"बाजिलो काहार बीणा मधुर स्वरे
आमार निभृत नब जीवन परे ।।१।।
प्रभात-कमल--सम
फुटिलो हृदये मम
कार दुटि निरुपम चरण तरे ।।२।।
जेगे उठे सब शोभा सब माधुरि
पलके पलके हिया पुलके पुरी,
कोथा होते समीरण
आने नव जागरण,
पराणेर आवरण मोचन करे ।।३।।
लागे बुके सुखे-दुखे कतो जे व्यथा,
केनने बुझाये कबो जानि ना कथा।
आमार वासना आजि
त्रिभुवने उठे बाजि,
काँपे नदी वन-राजि वेदना-भरे ।।४।।
बाजिलो काहार वीणा मधुर स्वरे।"

अर्थ :—"मेरे निभृत (निर्जन) और नवीन जीवन पर यह मधुर स्वर से किसकी वीणा बजी? ।।१।। प्रभात-कमल की तरह मेरा हृदय किसके दो निरुपम चरणों के लिये विकसित हो गया? ।।२।। पल-पल में हृदय को पुलक-पूर्ण करके सम्पूर्ण शोभा—सम्पूर्ण माधुरी जग रही है। न जाने समीर कहाँ से

नवीन जागरण ला रहा है (कि उसके स्पर्श मात्र से शरीर में सजीवता आ रही है;—इस तरह वह प्राणों पर पड़े हुए पर्दे को हटा देता है।) जीवन की जड़ता, मोह और आलस आदि को दूर कर देता है।) ॥३॥ सुख और दुःख के समय हृदय में न जाने व्यथा के कितने झोंके लगते हैं!—उन्हें मैं किस तरह समझा कर कहूँ—मुझे उसकी भाषा नहीं मालूम। आज मेरी ही वासनाएँ सारे संसार में मुखरित हो रही हैं। उनकी आहों से वृक्ष, जङ्गल, नदी आदि काँप रहे हैं। अचानक न जाने किसकी वीणा सुमधुर स्वर से बज उठी ॥४॥

इस संगीत की रचना में महाकवि ने छायावाद का आश्रय लिया हैं। यों तो जान पड़ता है कि कविता निराधार है—आसमान में महल खड़ा करने की युक्ति की तरह बेबुनियाद है, परन्तु नहीं, हृदय के सच्चे भावों को चित्र का रूप देकर महाकवि ने इस कविता में जीवन की अमर स्फूर्ति भर दी है। इस कविता में जितना ऊँचा कवित्व है—प्राणों की भाषा का जितना उच्च विकास है, उतना ही गम्भीर दर्शन भी है। हमारे मनोज्ञ, पण्डित कहते हैं, बाहरी संसार के साथ मन का जबरदस्त मेल है, जब मन में किसी प्रकार का हर्ष अपनी मनोहर महिमा पर इतराता रहता है, तब उसका चित्र हमें बाहरी संसार में भी देख पाता है,—उसकी छाया—वैसा ही भाव बाहरी संसार में भी हम प्रत्यक्ष करते हैं,—मानों संसार का एक-एक कण हमारे सुख के साथ सहानुभूति रखता हुआ हमारे हर्ष की प्रतिध्वनि में हमें सुना रहा है; और जब दुःख की अधीरता हृदय को डावांडोल कर देती है, तब भी हम बाहर संसार में मानों उसी की मलिन रेखा पात-पात में प्रत्यक्ष करते हैं। यहाँ, इस कविता में महाकवि के हृदय में पहले सुख का अंकुर निकलता है, फिर वही वासना में रूप में फैल कर बढ़ जाता है—इतना बढ़ता है कि तीनों लोक को अपने विस्तार से ढक लेता है। यही इस कविता की बुनियाद है और चित्रण की अपूर्व कुशलता इसका मनोहर शरीर। हृदय में सुख-साम्राज्य के फल कर वासना की वशी छेड़ने के साथ ही महाकवि के मुख से निकलता है—

"बाजिलो काहार वीणा मधुर स्वरे
आमार निभृत नव जीवन परे"—

महाकवि का जीवन नवीन है—एकान्त में सुरक्षित है, और वहीं एक वीणा मधुर स्वर से बजती है। हम कह चुके हैं यह सुख की वीणा है, यौवन के निर्जन प्राप्ति में वीणा महाकवि को मुग्ध करने के लिये बज रही है। परंतु

यह किसकी वीणा है—बजाने वाला कौन है, यह कवि को नहीं मालूम,—इतना ही रहस्य है—यही रहस्यवाद है—छायावाद है। यह जरूर है कि महाकवि के यौवन कुंज की हरी-भरी कुटीर में महाकवि के सिवा और कोई न था,—अपने यौवन की पल्लवित महिमा को देख हृदय की निर्जन कन्दरों में मधुर स्वर से उसका स्वागत करने वाले महाकवि ही थे, परन्तु अपनी सत्ता पर ऐसे स्थल में यदि वे जोर देकर निश्चय पूर्वक कुछ कहते तो कविता का सौंदर्य अवश्य ही नष्ट हो जाता, अज्ञात यौवना के यौवन और अंग-सम्बन्धी प्रश्नों की तरह महाकवि ने वीणा बजाने वाले पर अपनी अज्ञात का आरोप करके कविता को बहुत ही सुन्दर चित्रित कर दिया है। वीणा बजाने वाले वे स्वयं हैं, परन्तु अपने को भूल कर-भूल कर वीणा बजाने वाले को जानने के लिये उनकी उत्सुकता स्वयं यहाँ कविता बन रही है। महाकवि की अज्ञता अन्तिम बन्द को छोड़ कर और सब बंदिशों में है। वीणा बजने के साथ-साथ हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

"प्रभात-कमल-सम
फुटिलो हृदय मम
कार दुटी निरुपम चरण तरे।"—

वीणा-झंकार के होते ही प्रभात-काल के कमल की तरह महाकवि के हृदय के दल खुल जाते हैं और उनके इस प्रश्न से कि—यह (हृदय) किसके दो अनुपम चरणों के लिये विकसित हो गया ?—एक और अज्ञेयवाद खड़ा हो जाता है। महाकवि के इस प्रश्न में बहुत बड़ी कविता है। चित्रकार पद्म को अंकित करके उस षोड़शी कामिनी या किसी देवी-मूर्ति को खड़ी कर सौंदर्य-ज्ञान की हद कर देते हैं, उधर कवि भी कमल से चरणों की उपमा देते हैं, यहाँ भी महाकवि का हृदय वीणा-ध्वनि सुन कर मानो किसी कामिनी के लिये कमल की तरह विकसित हो जाता है। परन्तु वह कामिनी है कौन, यह महाकवि को नहीं मालूम। हृदय-कमल का विकास किसी कामिनी के उस पर चरण रखने के लिये ही हुआ यह ठीक है, कमल भी खिला है और कामिनी का वहाँ आना भी निस्सन्देह है, परन्तु वह कामिनी है कौन ?—कवि को नहीं मालूम। एक अज्ञात युवती को वह अपना सम्पूर्ण हृदय देने के लिये बढ़ा हुआ है। बढ़ा हुआ ही क्यों;—हृदय का विकास मानो दान के लिये ही हुआ है—उस पर उस कामिनी का स्वतः सिद्ध अधिकार है, हृदय वाले का जैसे वहाँ कुछ भी नहीं,

जैसे युवती आकर कहे—"जब तक हृदय नहीं खिला था, तब तक तो वह तुम्हारा था, अब खुल कर हमारा है, चलो छोड़ो राह, जाने दो हमें अपने आसन पर।" पाठक ध्यान दें—किस खूबी से रवीन्द्रनाथ हृदय का दान करते हैं और वह भी एक उस युवती को जिसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते। हृदय खुल जाने पर सारी शोभा और सम्पूर्ण माधुरी का जग जाना बहुत ही स्वाभाविक है, इस पर वे कहते हैं—

"जेगे उठे सब शोभा सब माधुरि
पलके-पलके हिया पुलके पुरी।"—
"कोथा होते समीरण
आने नव जागरण
पराणेर आवरण मोचन करे।"

यहाँ उन्होंने सिर्फ हवा की करामात दिखलाई है कि वह अंगों का स्पर्श करके किस तरह उनमें नया जागरण—नवीन स्फूर्ति पैदा करती—प्राणों पर पड़े हुए जड़ आवरण को हटा देती है; परन्तु आगे चल कर अपनी वासना के साथ बाहरी प्रकृति की सहानुभूति दिखलाते हुए उन्होंने चित्रण-कुशलता की हद कर दी है—

"आमार वासना आजि
त्रिभुवने उठे वाजि,
कांपे नदी वन राजि वेदना-भरे।"

यहाँ महाकवि पत्तियों और लहरों को कांपते हुए देख कर जो यह कहते हैं कि आज मेरी ही वासना का डंका तीनों लोक में बज रहा है और इसी से वन और नदियों में वेदना का संचार दीख पड़ता है—वे कांप रहे हैं, इससे कविता पूर्ण रूप से खुल जाती है, कवि-हृदय को बिम्बित कर दिखाने के लिये एक बहुत ही साफ आइने का काम करती है।

(संगीत—३)

"आजि शरत-तपने, प्रभात-स्वपने
कि जानि पराण कि जे चाय ॥१॥
ओई शेफालीर शाखे कि बलिया डाके,
विहग-विहगी कि जे गाय ॥२॥

आजि मधुर बातासे, हृदय उदासे,
रहे ना आवासे मन हाय ! ।।३।।
कोन कुसुमेर आशे, कोन फूल वासे,
सुनील अकाशे मन धाय ।।४।।
आजि के जेनो गो नाई, ए प्रभाते ताई
जीवन विफल हय गो ।।५।।
ताइ चारी दिके चाय, मन केंदे गाय,
"ए नहे, ए नहे, नय गो !" ।।६।।
कोन स्वप्ननेर देशे, आछे एलो केशे,
कोन छायामयी अमराय ! ।।७।।
आजि कोन उपवने, विरह-वेदने
आमारी कारणे केंदे जाय ।।८।।
आमि यदि गाइ गान, अधिर पराण,
से गान शुनाब कारे आर ।।९।।
आमी यदि गांथि माला, लये फुल-डाला,
काहारे पराव फुल हार ।।१०।।
आमी आमार ए प्राण यदि करि दान
दिबो प्राण तबे कार पाय ।।११।।
सदा भय हय मने पाछे अजतने
मने मने केहो व्यथा पाय ।।१२।।

अर्थ :—"आज शरदऋतु के सूर्योदय में—प्रभात के स्वप्नकाल में जी न जाने क्या चाहता है ? ।।१।। उस शेफालिका (हरसिंगार) की शाखा पर बैठे हुए विहङ्ग और विहङ्गी क्या जानें क्या कह-कह कर एक दूसरे को पुकारते हैं और उनके गाने का अर्थ भी क्या है ? ।।२।। आज की मधुर वायु प्राणों को उदास कर देती है—हाय !—घर मे मन भी नहीं लगता ! ।।३।। न जाने किस फूल की आशा से किस सुगन्ध के लिये मन नीले आसमान की ओर बढ़ रहा है ! ।।४।। आज—न जाने वह कौन—एक अपना मनुष्य मानों नहीं है, इसीलिये इस प्रभातकाल में मेरा जीवन विफल हो रहा है ! ।।५।। इसीलिये मन चारों ओर हेरता है, और जो कुछ भी उसकी दृष्टि में आता है, उसे देख कर व्यथा के शब्दों में गाते हुए कहता है—'यह वह नहीं है—वह (कदापि) नहीं !"

॥६॥ न जाने किस स्वप्न देश की छायामयी अमरावती में वह मुक्तकेशी (इस समय) है ! ॥७॥ आज न जाने किस उद्यान में वह विरह की दिनों में भरी हुई आती है, और मेरे लिये वहाँ से रो कर चली जाती है ॥८॥ मैं अगर किसी संगीत की रचना भी करूँ—संगीतों की माला गूँथूँ, तो प्राणों के अधीर होने पर वे संगीत—फिर मैं किसे सुनाऊँगा ? ॥९॥ और अगर फूलों की माला गूँथूँ तो वह हार भा मैं किसे पहनाऊँ ? ॥१०॥ अगर मैं अपने प्राणों का दान करना चाहूँ तो किसके चरणों में मैं इन्हें समर्पित करूँ ॥११॥ मेरा मन सदा डरता रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि मेरी त्रुटि से हृदय में किसी को चोट लगे ॥१२॥

यह चित्र कवि के उदास भाव का है। जिस समय प्राणों में एक खोई हुई वस्तु के लिये मौन प्रार्थना गूँजती रहती है, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रार्थना का आभास मात्र रहता है परन्तु क्यों और किसके लिये प्रार्थना होती है, यह बात प्यासे हृदय को नहीं मालूम होती। इस संगीत में महाकवि की वैसी ही दशा है। शरदऋतु के स्वर्ण-प्रभात को देखते ही महाकवि के हृदय में एक आकांक्षा घर कर लेती है। सौंदर्य के साथ आकांक्षा, पुष्प के साथ कीट, यह ईश्वरीय नियम है। इस नियम का बन्धन कवि को भी स्वीकृत है। मनुष्य की सीमा में रह कर अपनी रागिनी को—अपने प्रकाश को असीम सौन्दर्य में मिला देने की कुशलता में रवीन्द्रनाथ अद्वितीय हैं। वे प्रत्येक वस्तु के साथ अपने हृदय को मिला कर उसकी महत्ता से अपने को महान करना जिस तरह जानते हैं, उसी तरह अपने हृदय की भाषा से संसार के हृदय को मुग्ध कर लेना भी उन्हें मालूम है। उनके इस संगीत में उदास स्वर बज रहा है, यह उदासीनता शरतकाल के स्वप्न सुन्दर प्रभात को देख कर आती है। इस उदासी में प्राणों की खोई हुई वस्तु का अभाव है और उसी के लिये मन आकाश के एक अनजाने छोर में उड़ जाता है। इस उक्ति की स्वाभाविक छटा देखने ही लायक है। महाकवि के मन की ही बात नहीं, मनुष्य मात्र के मन में जब उदासीनता की घटा घिर आती है, तब उच्चाटन के साथ वह न जाने किस एक अजाने देश में अपने हृदय को छोड़ कर उड़ता फिरता है। इस भाव को महाकवि की भाषा किस अद्भुत ढंग से अदा करती है, देखिये—

"कोन कुसुमेर आशे, कोन फुल वासे;
सुनील आकाशे मन धाय।"

आसमान में जिसके लिये मन चक्कर काट रहा है, कवि को उसका परिचय नहीं मालूम। यह बात उसे आगे चल कर मालूम होती है—वह अपनी उदासीनता का कारण समझता है। परन्तु समझने से पहले मन हरेक वस्तु को पकड़ कर, उसे उलट-पुलट कर देखता है, और उसे अपनी उदासीनता का कारण न समझ कर छोड़ देता था, जैसा स्वभावतः किसी भूले हुए आदमी की याद करते समय लोग किया करते हैं—जो नाम या जो स्वरूप मन में आता है वे प्राचीन स्मृति के सामने पेश करते और वहाँ से असम्मति की सूचना पा कर उसे छोड़ दूसरा नाम या दूसरा स्वरूप पेश करते हैं, जब तक स्मृति किसी नाम या स्वरूप को स्वीकृत नहीं करती तब तक इजलास के गवाहों की तरह नाम या रूप पेश होते रहते हैं। इस तरह की पेशी महाकवि के उदास मन में भी होती है, वे कहते हैं—

"आजि के जेनो गो नाई, ए प्रभाते ताई
जीवन विफल हय गो
ताइ चारि दिके चाय मन केंदे गाय,
'ए नहे, ए नहे, नय गो'।"

जिसके लिये मन रो रहा है, उसकी सम्पूर्ण स्मृति महाकवि भूले हुए हैं—मन के सामने जिस किसी को वे पेश करते हैं उसके लिये मन कह देता है, "यह नहीं है, मैं इसे नहीं चाहता।" इसके पश्चात् महाकवि को मचले हुए मन की प्रार्थना-मूर्ति याद आती है और अपूर्व कवित्व में भर कर वे अपनी भाषा की तूलिका द्वारा उसे चित्रित करते हैं—

"कोन स्वपनेर देशे आछे एलो केशे
कोन छायामयी अमराय।
आजि कोन उपवने विरह-वेदने
आमारि कारणे केंदे जाय।"

कवि की प्रेयसी वह खुले बालों वाली किसी छायामयी अमरपुरी की रहने वाली है। अब इतनी देर बाद उसकी आद आई। साथ ही महाकवि अपने उच्चाटन की मदिरा उसकी भी आँखों में छलकती हुई देखते हैं और स्वर उसके भी कण्ठ से सुनते हैं। वह वहाँ किसी उद्यान में विरह-व्यथा से भरी हुई आती है और उनके लिये रो कर चली जाती है।

उस विरह-विधुर-सुरपुरवासिनी की याद करके महाकवि को भाषा के

धागे में संगीत पिरोना बिलकुल भूल जाता है, वे इससे उदास हो जाते हैं, क्योंकि जिन चरणों में संगीत की लड़ी उपहार के रूप में रखी जाती है, वे उनसे बहुत दूर हैं—वहाँ तक उनकी पहुँच किसी तरह नहीं हो सकती इस हताश भाव की ध्वनि में संगीत भी गूँज कर समाप्त हो जाता है।—व्यथा के बादल कुछ बूँद टपका कर जलती हुई जमीन को और जला जाते हैं।

(संगीत—४)

"लेगेछे अमल धवल पाले मन्द मधुर हावा
देखि नाइ कभु देखि नाइ एमन तरणी बावा ॥१॥
कोन् सागरेर पार होते आने
कोन सुदूरेर धन।
भेसे जेते चाय मन;
फेले जेते चाय एई किनाराय
सब चावा सब पावा ॥२॥
पिछने झरिछे झर-झर जल
गुरु गुरु देया डाके,
मुखे एसे पड़े अरुण किरण
छिन्न मेघेर फांके।
ओगो काण्डारी, केगो तुमी, कार
हासी कान्नार धन।
भेबे मरे मोर मने,
कोन सुरे आजि बांधिबे यन्त्र
कि मन्त्र हबे गावा ॥३॥

अर्थ :—'मेरे इस साफ और सफेद पाल में हवा के मधुर-मन्द झोंके लग रहे हैं, इस तरह से नाव का खेना मैंने कभी नहीं देखा ॥१॥ भला किस समुद्र के पार से—किस दूर देश का धन इसमें खिंचा आ रहा है ?—मेरा मन वहाँ बह कर पहुँच जाना चाहता है, और साथ ही,—इधर—इस किनारे पर सारी प्रार्थना और सम्पूर्ण प्राप्तियों को छोड़ जाना चाहता है ॥२॥ पीछे झर-झर स्वर से जल झर रहा है, मेघों में गर्जना हो रही है, और कभी छिन्न बादलों के छेद से सूर्य की किरणें मेरे मुख पर आ गिरती हैं, ए नाविक, तुम कौन हो ?—किसके हास्य और आँसुओं के धन हो ? मेरा मन सोच-सोच कर रह

जाता है; तुम आज किस स्वर में बाजा मिलाओगे—कौन-सा मन्त्र आज गाया जायगा ? ।।३।।'

(संगीत—५)

"यामिनी ना जेते जागाले न केनो,
बेला होलो मरि लाजे ।।१।।
सरमें जड़ित चरणे केमने
चलिब पथेर माझे ।।२।।
आलोक परशे मरमें मरिया
देख लो शेफाली पड़िछे झरिया,
कोन मते आछे पराण धरिया
कामिनी शिथिल साजे ।।३।।
निबिया बांचिलो निशार प्रदीप
उधार बातास लागी;
रजनीर शशी गगनेर कोने
लुकाय शरण मांगी !
पाखी डाकी बले—गैल विभावरी;
बधू चले जले लोइया गागरी,
आमी ए आकुल कवरी आवरी
केमने जाइबो काजे ।।४।।"

अर्थ :—'रात बीतने से पहले तुमने मुझे क्यों नहीं जगाया ? दिन चढ़ गया—मैं लाजों मर रही हूँ ।।१।। भला बताओ तो—इस हालत में जब कि मारे लज्जा के मेरे पैर जकड़-से गये हैं, मैं रास्ता कैसे चलूँ ? ।।२।। आलोक के स्पर्श मात्र से मारे लज्जा के संकुचित हो कर—वह देखो—शेफालिकाएँ (हरसिंगार के फूल) झड़ी जा रही हैं, और इधर मेरी जो दशा है—क्या कहूँ, अपनी इस शिथिल सज्जा को देख किसी तरह हृदय को सँभाले हुए हूँ ।।३।। उषा की वायु से बुझ कर बेचारे निशा के प्रदीप की जान बची,—उधर रात का चाँद आसमान के कोने में शरण ले कर छिप रहा है, पक्षी पुकार कर कहते हैं—'रात बीत गई', बगल में घड़ा दबाये हुए बहुएँ पानी भरने के लिये जा रही हैं,—इस समय मैं खुली हुई अपनी व्याकुल वेणी को ढक रही हूँ, भला बताओ तो—कैसे मैं इस समय काम करने के लिये बाहर निकलूँ ?'

(संगीत—६)

"हेला फेला सारा बेला ए की खेला आपन सने ।।१।।
एई बातासे फूलेर बासे मुख खानी कार पड़े मने ।।२।।
आंखिर काछे बेड़ाय भासि,
के जाने गो काहार हासि,
दुटी फोंटा नयन सलिल रेखे जाय एई नयन कोने ।।३।।
कोन छायाते कोन उदासी
दूरे बाजाय अलस बांशी,
मने हय कार मनेर वेदना केंदे बेड़ाय बांसीर गाने ।। ४ ।।
सारा दिन गांथी गान;
कारे चाहि गाहे प्राण,
तरु तले छायार मतन बसे आछी फुल बने ।। ५ ।।

अर्थ :—'सब समय हृदय में विरक्त के ही भाव बने रहते हैं, यह अपने साथ खेल हो रहा है ? ।।१।। इस बातास में, फूलों की सुबास के साथ जिसकी याद आती है, वह मुख किसका है ? ।।२।। आँखों के आगे वह तैरती फिरने वाली किसकी हँसी है जो दो बूंद आंसू इन आँखों के कोने में रख जाया करती है ? ।।३।। वह उदासीन कौन है—दूर न जाने किस छाया में अलग भाव से बसी बजा रहा है, जी में आता है—हो न हो यह किसी के मन की वेदना होगी—बाँसुरी के गीत के साथ रोती फिर रही है ।।४।। दिन भर मैं संगीत की लड़ियाँ गूंथा करता हूँ,—क्यों—किसे मेरा हृदय चाहता है ?—किसके लिये गाया करता है ?—इस पेड़ के नीचे छाया की तरह मैं किसके लिये फुलवाड़ी में बैठा हुआ ? ।।५।।

(संगीत—७)

"आमाय बाँधबे यदि काजेर डोरे
केन पागल कर एमन कोरे ? ।। १ ।।
बातास आने केन जानी
कोन गगनेर गोपन वाणी
पराण खानी देय जे भरे ।। २ ।।
(पागल करो एमन कोरे ।।)

सोनार आलो केमने हे
रक्ते नाचे सकल देहे ।। ३ ।।
कारे पाठाओ क्षणे क्षणे
आमार खोला बातायने;
सकल हृदय लये जे हरे ।
सकल हृदय लये जे हरें ।
पागल करे एमन कोरें ।। ४ ।।

अर्थ :—'मुझे अगर तुम कार्यों के भागों से बाँधना चाहते हो, तो इस तरह मुझे पागल क्यों कर रहे हो ? ।।१।। मैं भला क्या जानूँ कि क्यों बातास वह एक किस आकाश की गुप्त वाणी ले आती है, फिर मेरे इन प्राणों को पूर्ण कर देती है ।।२।। न जाने क्यों, किस तरह स्वर्ण-रश्मियाँ खून के साथ मेरे तमाम देह में नाचती रहती है ।।३।। तुम किसे बार-बार मेरे खुले हुए झरोखे के पास भेजते हो ? वह मेरे सम्पूर्ण हृदय को हर लेता और इस तरह मुझे पागल कर देता है ।।४।।'

(संगीत—८)

"तोमारि रागिणी जीवन-कुञ्जे
बाजे जेन शदा बाजे गो ।। १ ।।
तोमारि आसन हृदय-पद्मे
राजे जेनो सदा राजे गो ।। २ ।।
तव नन्दन-गन्ध-मोदित
फिरि सुन्दर भुवने,
तव पद-रेंणु माखि लये तनु
साजे जेन सदा साजे गो ।।३।।
सब विद्वेष दूरे जाय जेन
तव मङ्गल-मन्त्रे
विकाशे माधुरी हृदय बाहिरे
तब संगीत-छंदे ! ।। ४ ।।
तव निर्मल निरव हास्य
हेरी अम्बर व्यापिया,

तव गौरवे सकल गर्व
लाजे जेन मेदा लाजे गो ॥ ५ ॥

अर्थ:—"मेरे प्राणों के कुंज में मानों सदा तुम्हारी ही रागिनी बज रही हैं ॥१॥ मेरे हृदय के पद्म पर मानों सदा तुम्हारा ही आसन अवस्थित हैं ॥२॥ नन्दन-वनकी सुगन्ध से मोद मग्न तुम्हारे सुन्दर भवन में विचरण करता हूँ, ऐसा करो कि मेरा शरीर तुम्हारे चरणों की रेणु धारण करके सजा हुआ रहे ॥३॥ सब द्वेष तुम्हारे मंगल मन्त्र के प्रभाव से दूर हो जाय, तुम्हारे संगीत और छंदों के द्वारा तुम्हारी माधुरी मेरे हृदय में और बाहर विकसित हो रहे ॥४॥ तुम्हारे निर्मल और नीरव हास्य को मैं सम्पूर्ण आकाश में फला हुआ देखूं, इस तरह तुम्हारे गौरव के आगे मेरा सारा गर्व लज्जित हो जाय ॥५॥"

(संगीत—६)

"सलक गर्व दूर करि दिबो
तोमार गर्व छाड़िबो ना ॥ १ ॥
सबारे डाकिया कहिब, जे दिन
पाब तव पद रेणु-कण ॥ २ ॥
तव आह्वान आसिबे जखन
से कथा केमने करिब गोपन ?
सकल वाक्ये सकल कर्मे
प्रकाशिबे तव आराधना ॥ ३ ॥
अत मान आमि पेयेछि जे काजे
से दिन सकलि जाबे दूर
शुधु तव मान देह सने मोर
बाजिया उठिबे एक सुरे !
पथेर पथिक सेओ देखे जाबे
तोमार बारता मोर मुख भावे,
भव संसार वातायन-तले
बोसे रबो जबे आनमना ॥४ ॥

अर्थ:—मैं अपना और सब गर्व दूर कर दूंगा, परन्तु तुम्हारे लिये मुझे जो गर्व है, उसे मैं कदापि न छोड़ूंगा ॥१॥ सब लोगों को पुकार कर मैं कह

दूँगा जिस दिन तुम्हारी चरणरेणु मुझे मिल जायगी (तुम्हारी कृपा के मिलते ही मैं दूसरों को पुकार कर उसका हाल उन्हें सुना दूँगा—तुम्हारी कृपा-प्राप्ति के लिये उनमें भी उत्साह भर दूँगा।) ॥२॥ तुम्हारी पुकार जब मेरे पास आयेगी, तब उसे मैं कैसे गुप्त रख सकूँगा?—मेरे सब वाक्यों और सम्पूर्ण कार्यों से तुम्हारी पूजा प्रकट होगी ॥३॥ मेरे कार्य से मुझे जो सम्मान मिला है, उस दिन इस तरह के सब सम्मान दूर हो जायँगे, एकमात्र तुम्हारा मान मेरे शरीर और मन में एक स्वर से बजने लगेगा; चाहे रास्ते का पथिक क्यों न हो, पर वह भी मेरे मुख के भाव से तुम्हारा संदेश देख जायगा, जब इस संसार रूपी झरोखे के नीचे मैं अनमना हुआ बैठा रहूँगा ॥४॥"

(संगीत—१०)

अल्प लइया थाकि ताइ मोर
जाहा जाय ताहा जाय ॥ १ ॥
कणाटुकु यदि हाराय ता लये
प्राण करे हाय हाय ॥ २ ॥
नदी-तट सम केवलि वृथाई
प्रवाह आंकड़ि राखिवारे चाई,
एके एके बुके आघात करिया
ढेउ गुलि कोथा धाय ॥ ३ ॥
जाहा जाय आर जाहा किछु थाके
सब यदि दी सपिया तोमाके
तबे नाहीं क्षय, सवि जेगे रय
तब महा महिमाय ॥ ४ ॥
तोमाते रयेछे कतो शशीभानु,
कभु ना हाराय अणुपारमाणु
आमार क्षुद्र हाराधन गुलि
रबे ना कि तव पाय? ॥ ५ ॥

अर्थः—"मैं थोड़ी-सी वस्तु समेट कर रहता हूँ, इसलिये मेरा जो कुछ जाता है वह सदा के लिये चला जाता है। एक कण भी अगर खो जाता है तो जी उसके लिये हाय-हाय करने लगता है ॥२॥ नदी के कंगारों की तरह सदा

प्रवाह को पकड़ रखने की मैं वृथा ही चेष्टा किया करता हूँ, एक-एक तरंग आती है और मेरे हृदय को धक्का मार कर न जाने कहाँ चली जाती है ! ।।३।। जो कुछ खो जाता है और जो कुछ रह जाता है, वे सब अगर मैं तुम्हें सौंप दूँ, तो इनका क्षय न हो; सब तुम्हारी महान् महिमा में जगते रहें ।।४।। तुममें कितने ही सूर्य और कितने ही चन्द्र हैं, कभी एक कण या परमाणु भी नहीं खो जाता; क्या मेरी खोई हुई क्षुद्र चीजें तुम्हारे आश्रय में रहेंगी ? ।।५।।"

महाकवि रवीन्द्रनाथ के भक्ति-संगीत की बङ्गला में बड़ी तारीफ है। बड़े-बड़े समालोचक तो यहाँ तक कहते हैं कि संगीत-काव्य लिख कर अपने इष्ट देव को सन्तुष्ट करने वाले बंगाल के प्राचीन कवियों में रवीन्द्रनाथ का स्थान बहुत ऊँचा है, कितने ही भक्त कवियों के संगीत तो बिलकुल रूखे हैं, उनमें सत्य चाहे जितना भरा हो—दर्शन की अकाट्य युक्ति से उनकी लड़ियों में चाहे जितनी मजबूती ले आई गई हो, परन्तु हृदय को हरने वाली कविता की उसमें कहीं बू भी नहीं है। रवीन्द्रनाथ की लड़ियाँ भक्ति के अमर सरोवर में कविता की अमृत लहरियाँ हैं। हृदय की जो भाषा अपनी वेदना से उबल कर अपने इष्ट देव के पास पहुँचती है, उसमें एक दूसरी ही आकर्षण-शक्ति रहती है। रवीन्द्रनाथ हृदय की भाषा के नायक हैं। उनकी आवेदन भरी भाषा जिस ढंग ने निकलती है, जिस भाव से भर कर इष्टदेव के मंदिर द्वार पर खड़ी होती है, उसमें एक सच्चे हृदय के साफ बिम्ब के सिवा कुछ नहीं देख पड़ता।

इस संगीत के भी वही चित्र हैं जो रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

"आमि सकल गरब दूर करि दिब
तोमार गरब छाड़िब ना।"

उनके इस निवेदन में हर एक पाठक की अन्तारात्मा उनके हृदय का स्वच्छ मुकुर और उसमें खुले हुए निष्काम भाव को प्रत्यक्ष करती है।" मैं सब प्रकार का गर्व छोड़ दूँगा, परन्तु तुम्हारा गर्व मुझसे न छोड़ा जायगा। इस उक्ति में इष्ट के प्रति—भक्ति की कितनी ममत्वमयी प्रीति है !—पढ़ने वाले का हृदय बरबस उसे अपनापन दे डालता है। रवीन्द्रनाथ ईश्वर की कृपा-दृष्टि स्वयं नहीं ले लेना चाहते, वे दूसरों को उनकी कृपा का पात्र बनाना चाहते हैं। इसलिये वे कहते है—"जिस दिन मुझे तुम्हारी कृपा मिलेगी, उस दिन और को भी पुकार कर तुम्हारी कृपा का समाचार सुना दूँगा।" इस

वाक्य में रवीन्द्रनाथ के हृदय की विशालता जाहिर है। इसकी पुष्टि में वे एक युक्ति भी देते हैं। वह यह कि—"जब मेरे लिये तुम्हारी पुकार होगी तब उसे मैं कसे छिपाऊँगा ?—मेरी बातें और मेरे कार्य खुद तुम्हारी आराधना प्रकट कर देंगे।" प्रभु की कृपा प्राप्ति का संवाद दूसरों को कैसी विचित्र युक्ति से दिया जा रहा है।

•